

# द्विवेदी-मीमांसा

लेखक

प्रेमनारायण दंडन



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

मूल्य १।।

१९३९

# द्विवेदी-मीमांसा

लेखकः

प्रेमनारायण टंडन



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

मूल्य १।।।

१९३९

भारतेंदु कर गए भारती की वाणि निर्माण ।  
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर-संधान ॥  
निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-भंकार ।  
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार ॥

X                    X                    X

पंखहीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान ।  
शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण ॥  
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न ! वंदी थे हृदयोदगार ।  
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?

X                    X                    X

वार्षि ! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,  
रूप-रंग से पूर्ण कर दिया ॥ जीर्ण राष्ट्र-कंकाल ।  
शत कंठों से फूट आपके शतमुख, गौरवनगान ।  
शत-शत दुर्ग-स्तंभों से ताने स्वर्णिम-कीर्ति-वितान ॥

X                    X                    X

चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग में, भारत का साहित्य ।  
आर्य, आपके यशःकाम को करे सुरक्षित नित्य ॥

—सुमित्रानंदन पंत

( द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ )

भारतेंदु कर गए भारती की वाणी निर्माण ।  
किया अमर स्पर्शों ने जिसका वहु विधि स्वर-संधान ॥  
निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-भंकार ।  
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार ॥

X                    X                    X

पंखहीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान ।  
शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण ॥  
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न ! वंदी थे हृदयोदगार ।  
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार ?

X                    X                    X

वारिम ! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,  
रूप-रंग से पूर्ण कर दिया ॥ जीर्ण राष्ट्र-कंकाल ।  
शत कंठों से फूट आपके शतमुख, गौरव-गान ।  
शत-शत दुर्ग-स्तंभों से ताने ॥ स्वर्णिम-कीर्ति-वितान ॥

X                    X                    X

चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग में, भारत का सहित्य ।  
आर्य, आपके यशःकाम को करे सुरक्षित नित्य ॥

—सुमित्रानंदन पंत  
( छिकेदी-अभिनंदन-यंथ )

इस संवंध में मैंने आदरणीय वावू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, से बात की थी। इसी सिलसिले में उन्होंने द्विवेदी जी का नाम लिया और बोले—इनके विषय में कुछ लिख सको तो लिखो; इसकी बड़ी ज़रूरत है।

मैंने स्वीकार कर लिया। मास्टर साहब ने मुझे द्विवेदी-अभिनंदन-प्रथं दिया, सरस्वती (सन् १९१८ से), सुधा, माधुरी, विशाल भारत, हंस और जागरण की फाइलें दीं और दीं द्विवेदी जी को कुछ पुस्तकें। नवा-नवा उत्साह था। द्विवेदी-अभिनंदन-प्रथं का “अद्वांजलि” शीर्षक अंश में उसी दिन पढ़ गया और दो लेख—पूर्वरूप और मंक्षिप्त जीवनचरित्र—लिख डाले। शाम को मैंने वे लेख मास्टर साहब को दिखाये। उन्होंने संशोधन किया। मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—ठीक हैं? उन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए कहा—हाँ, ठीक ही हैं, पर इतनी जल्दी करने से काम नहीं चलेगा। इससे मेरा उत्साह ही बढ़ा। द्विवेदी जी की पुस्तकें मैंने मँगाईं; कुछ दिन के लिए, द्विवेदी जी की अनुमति से, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में जाकर द्विवेदी जी का पत्र-न्यवहार देखा और तब फिर से “मीमांसा” में हाथ लगाया। मुझे ठीक याद है कि जिस दिन मैंने यह पुस्तक लिखनी आरंभ की थी, वह जन्माष्टमी का अत्यंत शुभ और पुनीत दिवस था। आज उसी परमात्मा की असीम अनुकंपा से, लगभग तीन वर्ष के परिश्रम के बाद, मैं इसे तैयार कर सका हूँ। इसके लिए मसाला जुटाने में, आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी, मैंने यथाशक्ति परिश्रम किया और मिले हुए मैटर का पूर्ण उपयोग करने की चेष्टा भी की, फिर भी यह पुस्तक जैसी होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। इसका प्रधान कारण मेरी अयोग्यता है, मैटर की कमी नहीं।

इस संवंध में मैंने आदरणीय वावू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, से बात की थी। इसी सिलसिले में उन्होंने द्विवेदी जी का नाम लिया और बोले—इनके विषय में कुछ लिख सको तो लिखो; इसकी बड़ी ज़रूरत है।

मैंने स्वीकार कर लिया। मास्टर साहब ने मुझे द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ दिया, सरस्वती (सन् १९१८ से), सुधा, माधुरी, विशाल भारत, हंस और जागरण की काइलें दीं और दीं द्विवेदी जी को कुछ पुस्तकें। नवा-नवा उत्साह था। द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ का “श्रद्धांजलि” शीर्षक अंश में उसी दिन पढ़ गया और दो लेख—पूर्वरूप और मंक्षिप जीवनचरित्र—लिख डाले। शाम को मैंने वे लेख मास्टर साहब को दिखाये। उन्होंने मंशोधन किया। मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—ठीक हैं? उन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए कहा—हाँ, ठीक ही हैं, पर इतनी जलदी करने से काम नहीं चलेगा। इससे मेरा उत्साह ही बढ़ा। द्विवेदी जी की पुस्तकें मैंने मँगाईं; कुछ दिन के लिए, द्विवेदी जी की अनुमति से, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में जाकर द्विवेदी जी का पत्र-व्यवहार देखा और तब फिर से “भीमांसा” में हाथ लगाया। मुझे ठीक याद है कि जिस दिन मैंने यह पुस्तक लिखनी आरंभ की थी, वह जन्माष्टमी का अत्यंत शुभ और पुनीत दिवस था। आज उसी परमात्मा की असीम अनुकंपा से, लगभग तीन वर्ष के परिश्रम के बाद, मैं इसे तैयार कर सका हूँ। इसके लिए मसाला जुटाने में, आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी, मैंने यथाशक्ति परिश्रम किया और मिले हुए मैटर का पूर्ण उपयोग करने की चेष्टा भी की, फिर भी यह पुस्तक जैसी होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। इसका प्रधान कारण मेरी अयोग्यता है, मैटर की कमी नहीं।

उत्साहित किया है। पंडित रूपनारायण जी पांडेय ( माधुरी-संपादक ) ने मेरे लेखों को माधुरी में प्रकाशित कर, समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करके और परामर्श देकर जो अभूल्य सहायता दी है तथा पंडित देवीदत्त जी शुक्ल ( सरस्वती-संपादक ) और बाबू कालिदास जी कपूर ने मुझ पर जो कृपा रखी है उसके लिए मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि यदि ये महानुभाव मुझ पर ऐसी कृपा न रखते तो शायद “मीमांसा” कभी तैयार ही न हो सकती।

१—८—३६  
रानीकटरा, लखनऊ }

प्रेमनारायण टंडन

उत्साहित किया है। पंडित रूपनारायण जी पांडेय ( माधुरी-संपादक ) ने मेरे लेखों को माधुरी में प्रकाशित कर, समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करके और परामर्श देकर जो अमूल्य सहायता दी है तथा पंडित देवीदत्त जी शुक्ल ( सरस्वती-संपादक ) और बाबू कालिदास जी कपूर ने मुझ पर जो कृपा रखी है उसके लिए मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि यदि ये महानुभाव मुझ पर ऐसी कृपा न रखते तो शायद “भीमांसा” कभी तैयार ही न हो सकती ।

१—८—३६  
रानीकटरा, लखनऊ }

प्रेमनारायण टंडन

## द्विवेदी-मीमांसा

---

( स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद् जी द्विवेदी की  
हिन्दी-सेवा की परिचयात्मक आलोचना । )

लेखक, प्रेमनारायण टंडन

वी० ए०, विशारदे,

हिंदी-अध्यापक, कालीचरन हाईस्कूल, लखनऊ ।

## द्विवेदी-मीमांसा

---

( स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की  
हिन्दी-सेवा की परिचयात्मक आलोचना । )

लेखक, प्रेमनारायण टंडन

वी० ए०, विशारदे,

हिंदी-अध्यापक, कालीचरन हाईस्कूल, लखनऊ ।

# विषयानुक्रमणिका

विषय		पृष्ठ
<b>पूर्वरूप</b>		<b>१</b>
गद्य की दशा	...	१
पद्य	...	३
छन्द और काव्यविषय	...	४
साहित्यिक अंग	...	४
जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश	...	७
हिन्दी-पत्रों का संक्षिप्त इतिहास	...	१४
सरस्वती में विविध विषय	...	१९
लेखकनिर्माण	...	३१
सम्पादन-कला और परिश्रम	...	४६
एक संशोधित लेख	...	५८
भाषा-सुधार-कार्य	...	६८
समालोचना	...	८०
प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श	...	८३
समालोचना	...	९१
(१) संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना	...	९१
(२) हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना	...	९४
आलोचना-शैली	...	९६
दूसरों के विचार	...	१०५
प्रभाव और समीक्षा	...	१११
निवन्ध और ग्रन्थ	...	११६
पुस्तकें	...	१२९

# विषयानुक्रमणिका

विषय				पृष्ठ
<b>पूर्वरूप</b>				
गद्य की दशा	...	...	...	१
पद्य	...	...	...	३
छन्द और काव्यविषय	...	...	...	४
साहित्यिक अंग	...	...	...	४
जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश	...	...	...	७
हिन्दी-पत्रों का संक्षिप्त इतिहास	...	...	...	१४
सरस्वती में विविध विषय	...	...	...	१९
लेखकनिर्माण	...	...	...	३१
सम्पादन-कला और परिश्रम	...	...	...	४६
एक संशोधित लेख	...	...	...	५८
भाषा-सुधार-कार्य	...	...	...	६८
<b>समालोचना</b>				
प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श	...	...	...	८३
समालोचना	...	...	...	९१
(१) संस्कृत-ग्रन्थों की आलोचना	...	...	...	९१
(२) हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना	...	...	...	९४
आलोचना-शैली	...	...	...	९६
दूसरों के विचार	...	...	...	१०५
प्रभाव और समीक्षा	...	...	...	१११
<b>निवन्ध और ग्रन्थ</b>				
पुस्तकें	...	...	...	१२९

( ३ )

विषय		पृष्ठ
संग्रह	...	२५८
सफलता का रहस्य	...	२५९
भारतीयता का भाव	...	२६२
सम्मान	...	२७३
महत्व	...	२८०

---

( ३ )

विषय			पृष्ठ
संग्रह	...	...	२५८
सफलता का रहस्य	...	...	२५९
भारतीयता का भाव	...	...	२६२
सम्मान		...	२७३
महत्त्व	...	...	२८०

यहाँ एक पेसी भाषा भी जिसे भारत के समाज प्रान्तों के निवासी थोड़ा-बहुत समझ सकते थे। भारतीय सुधारकों के पूर्ववर्जी च नमकालीन ईमार्ट गिरजानगी भी इसी कारण दिन्ही में ही अपनी पुस्तकें शृंखले में और आरम्भ में भवानीर ने भी हिन्दुनानियों और गोरों में रद्द-बद्द बदाने के लिए दिन्ही को ही स्कारा पकड़ा था। इन नव प्रचरकों का सुपरिणाम, जो प्रायः शुगावर न्याय से हुआ था, यह हुआ कि दिन्ही-भाषा का प्रचार जनता में पहले की अवधी तुल अधिक हो गया और भारतेन्दु वायू दर्शनन्द (नवयन् १८७७-१८८५) अपने वलन्यत के नाथ दिन्ही-भाषा को अपनाने का, और उभी में अपने भाव प्रफूल करने का आदर्श जनता के मामले रख रखे। इन लोगों ने अँगरेजी और बँगला से प्रभावित होकर दिन्ही-नगर में भी काफी सुगर किये और इन भाषाओं के अनेक नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करके नथा अनेक गीतिक पुस्तकें रचकर दिन्ही-भाषा की श्रीवृद्धि की। बँगला और अँगरेजी के नामचर्य पों दो स्पष्ट प्रभाव हिन्दी गदा-पर पढ़—

- (१) भाषा में शिष्टता-और कोमलता आगर्द्ध और उभकी अंजना-शक्ति बढ़ गई।
- (२) अँगरेजी के विराम-चिह्नों का थोड़ा-बहुत प्रयोग होने लगा।

इसका यह फल हुआ कि भाषा स्पष्ट, मंगठित और मुलभी हुई होगई। किर भी भाषा में व्याकरण-सन्दर्भी दोष बने रहे और उसके स्तर में भी काफी अस्थिरता और असंयमता चलनी रही।

#### पद्ध

यह तो हुई गदा की बात्! पद्ध की दशा भी लगभग पेसी ही थी; यद्यपि उसका कलेवर अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर रहा

यहाँ एक ऐसी भाषा थी जिसे भारत के समाज प्रान्तों के निवासी थोड़ा-बहुत समझ सकते थे। भारतीय सुधारकों के पुर्ववर्ती य समाजोंने हिन्दू गिरजाओं में भी अपनी पुस्तकों छापाते थे और आखर भैं समाजोंने भी हिन्दूनानियों और लोगों में रहन-शैक्षण बढ़ाने के लिए हिन्दी का ही स्लाहा पढ़ा था। इन सब प्रवर्तीों का सुप्रदिलाम, जो प्रायः सुगार न्याय से हुआ था, यह हुआ कि हिन्दी-भाषा का प्रचार जनता में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक हो गया और भारतेन्दु चारू हारिश्चन्द्र (नंवर् १६७७-१६११) अपने दलन्तल के नाथ हिन्दी-भाषा को अपनाने का, और उनीं में अपने भाव प्रफुट करने का आदर्श जनता के मामने रख सके। इन लोगों ने औंगरेजी और बँगला से प्रभावित होकर हिन्दी-गद में भी काफ़ी सुगार किये और इन भाषाओं के अनेक नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करके नथा अनेक गौतिक पुस्तकें रचकर हिन्दी-भाषा की श्रीबृद्धि की। बँगला और औंगरेजी के नामन्तर्याम पर दो स्पष्ट प्रभाव हिन्दी गद पर पड़े—

- (१) भाषा में शिष्टता-और कामलता आगर्द्ध और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई।
- (२) औंगरेजी के विग्राम-चिह्नों का थोड़ा-बहुत प्रयोग होने लगा।

इसका यह फल हुआ कि भाषा स्पष्ट, मंगठित और मुलभी हुई होगई। किरंभी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी दोष बने रहे और उसके स्वप में भी काफ़ी अस्थिरता और असंयमता चलती रही।

### पद्ध

यह तो हुई गद की बात! पद्ध की दशा भी लगभग ऐसी ही थी; यद्यपि उसका कलेवर अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर रहा

कहानियों का एक प्रकार से जन्म ही नहीं हुआ था। नाटकों का भी अमाव ही था। इसके सम्बन्ध में स्वयं द्वियेदी जी ने अपने नाट्य-शास्त्र में (२४ नवम्बर सन् १६१०) लिखा है— “हिन्दी बोलनेवाले, हम लोग, लाभदायक और उपयोगी विषयों को नाटक के रूप में लाकर उनके द्वारा मनोरंजन करने की ओर बहुत ही कम ध्यान देने हैं। यदि कोई नाटक लिखता भी है तो वह प्रायः वेसिरपैर का लिखता है। भाषा ऐसी लचर कि उसके अभिनय को बात तो दूर रही, उसे पुस्तक ही में देखकर दुख होता है।” पत्र-पत्रिकायें रोज निकलती और बन्द होती थीं। उनमें संपादक लोग प्रायः अपने ही लेख भरा करते थे। हाँ, कभी कभी कुछ तत्त्व-हीन और चापलूसी से भरे लेख भी प्रकाशित हो जाते थे। कुछ लोग समालोचना का नाम अवश्य मुन चुके थे, पर वे उसके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और आदर्श संअनभिज्ञ थे। उस समय हिन्दी के प्रमुख लेखकों ने अपने-अपने दल बना रखते थे, जिनमें ‘परस्पर-प्रशंसा’ की प्रवृत्ति बड़े जोरों पर थी। एक दलवाले दूसरे दल के लेखक की पुस्तक को बुरा अवश्य कहते थे, चाहे हृदय में वे उसे अच्छा ही मानते हों। उनकी समालोचना का लद्य लेखक होता था, पुस्तक नहीं। संक्षेप में उस समय न तो भाषा ही व्याकरण-सम्मत और सुव्यवस्थित हो पाई थी और न उसके साहित्य के किसी अंग को पूर्ति को ओर हो लेखकों का ध्यान गया था। इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति और पुरातत्व आदि विषय साहित्य के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे। लेखक प्रायः सभी निरंकुश थे। न उनकी कोई शैली थी, न प्रणाली।

उस समय भाषा की क्या दशा थी, इसका ठीक चित्र एक समाचार-पत्र ने इन शब्दों में खींचा है—“उस समय हिन्दी हर तरह से दीन-हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था,

कहानियों का एक प्रकार से जन्म ही नहीं हुआ था। नाटकों का भी अभाव ही था। इसके सम्बन्ध में स्वयं द्विवेदी जी ने अपने नाट्य-शास्त्र में (२४ नवम्बर सन् १६१०) लिखा है—“हिन्दी बोलनेवाले, हम लोग, लाभदायक और उपयोगी विषयों को नाटक के रूप में लाकर उनके द्वारा मनोरंजन करने की ओर बहुत ही कम ध्यान देने हैं। यदि कोई नाटक लिखता भी है तो वह प्रायः वेसिरपैर का लिखता है। भाषा ऐसी लचर कि उमके अभिनय की बात तो दूर रही, उसे पुस्तक ही में देखकर दुःख होता है।” पत्र-पत्रिकायें रोज़ निकलती और बन्द होती थीं। उनमें संपादक लोग प्रायः अपने ही लेख भरा करते थे। हाँ, कभी कभी कुछ तत्त्व-हीन और चापलूसी से भरे लेख भी प्रकाशित हो जाते थे। कुछ लोग समालोचना का नाम अवश्य मुन चुके थे, पर वे उसके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और आदर्श से अनभिज्ञ थे। उस समय हिन्दी के प्रमुख लेखकों ने अपने-अपने दल बना रखे थे, जिनमें ‘परस्पर-प्रशंसा’ की प्रवृत्ति बड़े जोरों पर थी। एक दलवाले दूसरे दल के लेखक को पुस्तक को घुरा अवश्य कहते थे, चाहे हृदय में वे उसे अच्छा ही मानते हों। उनकी समालोचना का लक्ष्य लेखक होता था, पुस्तक नहीं। संक्षेप में उस समय न तो भाषा ही व्याकरण-सम्मत और सुव्यवस्थित हो पाई थी और न उसके साहित्य के किसी अंग को पूर्ति की ओर हो लेखकों का ध्यान गया था। इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति और पुरातत्त्व आदि विषय साहित्य के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे। लेखक प्रायः सभी निरंकुश थे। न उनकी कोई शैली थी, न प्रणाली।

उस समय भाषा की क्या दशा थी, इसका ठीक चित्र एक समाचार-पत्र ने इन शब्दों में खोंचा है—“उस समय हिन्दी हर तरह से दीन-हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था,

# जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश

“जिस व्यक्ति ने थीस वर्पों” तक लगातार दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता का माहित्यिक अनुशासन किया वह वैसथाइ की देहात का रहनेवाला एक सामान्य श्रेणी का ब्राह्मण था। अवध की नवाची के पर्यवसान के बाद उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक निर्धन आम में उसका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश का वह निवासी था—उस समय तक उजड़कर निरहरता और दरिद्रता का केन्द्र बन चुका था। किन्तु प्राचीन सूतियाँ लुप्त नहीं होती, अतः प्राचीन संस्कार भी सुयोग पाकर कभी पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा की जो धारा कभी अपनो चीचि-रचना के उपलब्ध में बाल्मोकि के कवि-कण्ठ का सुवर्णदार प्रस करती होगी वह आज भी दौलतपुर के समीप से ही बहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों में भी मधुर रस ढालते थे, आज भी दौलतपुर के आम-पास अपना वही उपहार लिये हुए खड़े हैं। इन्हीं आम्र-काननों के परिपूर्ण यौवन के समय माधव मास में इसा आम के एक कान्यकुञ्ज-कुल में शिशु महावीरप्रसाद ने सन् १८६४ ई० (सं० १६२१ वैशाख शुक्ल ५) को जन्म लिया। प्रसूतिगृह में उसकी जिहा पर सरस्वती का बीजमन्त्र अंकित कर दिया गया। मंत्रविद्या सत्य सिद्ध हुई।”

द्विवेदी जी के पितामह संस्कृत के भारी विद्वान् थे; पर असमय में ही देहात्रसान हो जाने से वे अपने मुत्रों को कुक्र पढ़ानलिखा नहीं सके थे; जिससे द्विवेदी जी के पिता

# जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश

“जिस व्यक्ति ने बीस वर्षों तक लगातार दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनना का साहित्यिक अनुशासन किया वह वैसथाड़ी की देहात का रहनेवाला एक सामान्य श्रेणी का ब्राह्मण था। अवध की नवावी के पर्यवसान के बाद उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक निर्धन ग्राम में उसका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश का वह निवासी था—उस समय तक उजड़कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र वह चुका था। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ लुप्त नहीं होतीं, अतः प्राचीन संस्कार भी सुयोग पाकर कभी पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा की जो धारा कभी अपनो वीचि-रचना के उपलक्ष्य में बाल्मीकि के कवि-कण्ठ का मुवर्रादार प्राप्त करती होगी वह आज भी दौलतपुर के समीप से ही वहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों में भी भयुर रस ढालते थे, आज भी दौलतपुर के आम-पाम अपना वही उपहार लिये हुए खड़े हैं। इन्हीं आम्र-काननों के परिपूर्ण यौवन के समय माधव मास में इसी ग्राम के एक कान्यकुञ्ज-कुल में शिशु महावीरप्रसाद ने सन् १८६४ ई० (सं० १६२१ वैशाख शुक्ल ५) को जन्म लिया। प्रसूतिगृह में उसकी जिहा पर सरस्वती का बीजमन्त्र अंकित कर दिया गया। मंत्र-विद्या सत्य सिद्ध हुई।”

द्विवेदी जी के पितामह संस्कृत के भारी विद्वान् थे; पर असमय में ही देहात्रसान हो जाने से वे अपने मुत्रों को कुछ पढ़ा-लिखा नहीं सके थे; जिससे द्विवेदी जी के पिता

उधर वहुत चक्कर लगाने पड़े और समय-समय पर वर्गवर्ड, नाग-पुर, अजमेर और भाँसी में रहना पड़ा। हरदा, खंडवा, होशंगावाद, और इटारसी में क्रम-क्रम से इन्हें पदोन्नति होती रही। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इंडियन मिडिलेंड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री छव्वल्यू० वी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर बनाकर भाँसी भेज दिया। इन्होंने वहाँ नई तरह का एक लाइन-क्लियर ईजाद करके अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया।<sup>१</sup> इसके बाद इन्होंने तारबर्की पर एक पुस्तक भी अँगरेजी में लिखी। इन दिनों कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-संबंधी काम ये देखते थे।

रेलवे में नौकरी करते हुए भी इनका अध्ययन बराबर जारी रहा। बंगलियों के साथ रहते हुए भाँसी में इन्होंने बँगला सीखी और इस प्रकार वे कई भाषाओं के जानकार हो गये।

साहित्य की ओर द्विवेदी जी का भुकाव आरंभ से ही था वे पण्डितों के गाँव के थे और सो भी उस गाँव के, जहाँ सुखदेव मिश्र जैसे रस-सिद्ध कवि रह चुके थे। मिश्र जी की कविताओं का प्रभाव द्विवेदी जी के बचपन तक उनके गाँव में खूब फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी वैसवाड़े के ही थे और सज्जनकीर्ति-सुधाकर के सम्पादक पंडित वंशीधर वाजपेयी तो द्विवेदी जी के पड़ोसी ही थे।<sup>२</sup> बंवई

<sup>१</sup> “उस समय भला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दीसाहित्य में भी नई तरह का लाइन क्लियर ईजाद करके सदैव के लिए अपने भक्तों के हृदयों में बस जायेंगे।”

<sup>२</sup> इस वायुमंडल का असर द्विवेदी नी पर पड़ हो चुका था।

उधर वहुत चक्कर लगाने पड़े और समय-समय पर वर्गी, नाग-पुर, अजमेर और भाँसी में रहना पड़ा। हरदा, खंडवा, होशंगावाद, और इटारसी में क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती रही। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इंडियन मिडिलेंड रेलवे) के ट्रैफिक मैनेजर श्री डब्ल्यू० वी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर बनाकर भाँसी भेज दिया। इन्होंने वहाँ नई तरह का एक लाइन-क्लियर ईजाद करके अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया।\* इसके बाद इन्होंने तारबर्की पर एक पुस्तक भी अँगरेजी में लिखी। इन दिनों कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक को पूरी लाइन का तार-संबंधी काम ये देखते थे।

रेलवे में नौकरी करते हुए भी इनका अध्ययन वरावर जारी रहा। बंगालियों के साथ रहते हुए भाँसी में इन्होंने बँगला सीखी और इस प्रकार वे कई भाषाओं के जानकार हो गये।

साहित्य की ओर द्विवेदी जी का भुकाव आरंभ से ही था वे पण्डितों के गाँव के थे और सो भी उस गाँव के, जहाँ सुखदेव मिश्र जैसे रस-सिद्ध किये रह चुके थे। मिश्र जी की कविताओं का प्रभाव द्विवेदी जी के बचपन तक उनके गाँव में खूब फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी वैसवाड़े के ही थे और सज्जनकीर्ति-सुधाकर के सम्पादक पंडित वंशीधर वाजपेयी तो द्विवेदी जी के पड़ोसी ही थे।<sup>†</sup> बंवई

\* 'उस समय भला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दीसाहित्य में भी नई तरह का लाइन क्लियर ईजाद करके सदैव के लिए अपने भक्तों के हृदयों में बस जायेंगे।'

<sup>†</sup> इस बायुमंडल का असर द्विवेदी जी पर पड़ हो चुका था।

लगी थी। द्विवेदी जी उस समय तक हिन्दी के अच्छे लेखक माने जा चुके थे। सरस्वती के ५-६ अंक प्रकाशित हो जाने पर भी जब उन्होंने उसके लिए कोई लेख न भेजा तब उसके प्रधान सम्पादक वावू कार्तिकप्रसाद ने उनके पास यह पत्र लिखा—

सरस्वती-संपादक-समिति-कार्यालय

गढ़वासी टोला,

बनारस सिटी,

२६-६-१९००

महाराय,

अभी तक आपने अपने किसी लेख से 'सरस्वती' को भूषित नहीं किया जिसके लिये सरस्वती की प्रार्थना है कि शीघ्र उसकी सुधि लीजिये।

आपका—

कार्तिकप्रसाद

द्विवेदी जी ही नहीं, द्विवेदी जी का भाग्य भी 'सरस्वती' की सुधि लेने के लिए उत्तावला चैठा था। 'धीरे-धीरे' उसमें इनके 'लेख और कवितायें प्रकाशित होने' लगी और 'सरस्वती' से उनका सम्बन्ध बढ़ने लगा। उस समय वे भाँसी में डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट) के आफिस में चीफ़ लर्क थे। इसी सिलसिले में उनका परिचय एक ऐसे महापुरुष से हुआ जिनके सम्पर्क और सहयोग ने द्विवेदी जी के जीवन की दिशा ही बदल दी। ये थे इंडियन मेम के स्वामी वावू चिन्तामणि चोप।

लगी थी। द्विवेदी जी उस समय तक हिन्दी के अच्छे लेखक माने जा चुके थे। सरस्वती के ५-६ अंक प्रकाशित हो जाने पर भी जब उन्होंने उसके लिए कोई लेख न भेजा तब उसके प्रधान सम्पादक वावू कार्तिकप्रसाद ने उनके पास यह पत्र लिखा—

सरस्वती-संपादक-समिति-कार्यालय  
गढ़वासी टोला,

बनारस सिटी,

२६-६-१९००

महाशय,

अभी तक आपने अपने किसी लेख से 'सरस्वती' को भूषित नहीं किया जिसके लिये सरस्वती की प्रार्थना है कि शीघ्र उसकी सुधि लीजिये।

आपका—

कार्तिकप्रसाद

द्विवेदी जी ही नहीं, द्विवेदी जी का भाग्य भी 'सरस्वती' की सुधि लेने के लिए उतावला चैठा था। थीरे-धीरे उसमें इनके 'लेख और कवितायें' प्रकाशित होने लगीं और 'सरस्वती' से उनका सम्बन्ध बढ़ने लगा। उस समय वे भाँसी में डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट) के आफिस में चीफ़ लर्क थे। इसी सिलसिले में उनका परिचय एक ऐसे महापुरुष से हुआ जिनके सम्पर्क और सहयोग ने द्विवेदी जी के जीवन की दिशा ही बदल दी। ये वे इंडियन प्रेस के स्वामी वावू चिन्तामणि घोष।

इयपय में पूछ-ताँछ करते थे। फिर कुछ गुजराती, बँगला, संस्कृत-पत्रिकाओं का अवलोकन करते और उसके बाद थोड़ी देर खुद भी लिखते तथा 'सरस्वती' के लेखों का संपादन करते। १० बजे के क़रीब भोजन करके दफ्तर जाते। वहाँ जो सिर मुकाया तो १ बजे तक ढेर की ढेर फ़ाइलों को साफ़ करके तब २ बजे के क़रीब उठकर कुछ जलपान किया करते। लौटकर अँगरेजी अखबार अवलोकन करते और जो काम आता जाता उसे समाप्त करते। चार-पाँच बजे के क़रीब घर आकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर दरवाजे पर बैठ जाते। जो लोग आते उनसे वार्तालाप होता। किसी को नेक सलाह देना, किसी की जरूरत पूरी कराने की चिन्ता करना—घंटे डेढ़ घंटे यही दिलबहलाव होता। इसके बाद फिर किताबों का अवलोकन करके ६-१० बजे तक विस्तर पर चले जाते।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई जिसने द्विवेदी जी को पूर्णतया साहित्य के ज्ञेन्म में लाकर रख दिया। पुराने ढी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिंटेंडेंट) की बदली होने पर उनकी जगह जो नये साहब आये उनसे और द्विवेदी जी से एक दिन कहा-सुनी हो गई। स्वाभिमानी तो द्विवेदी जी थे ही; आपने रेलवे की १५०) की नौकरी पर लात मार दी और आकर कानपुर के पास जुही में रहने लगे और वहाँ से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

---

विषय में पूछ-ताँछ करते थे। फिर कुछ गुजराती, वँगला, संस्कृत-पत्रिकाओं का अवलोकन करते और उसके बाद थोड़ी देर खुद भी लिखते तथा 'सरस्वती' के लेखों का संपादन करते। १० बजे के करीब भोजन करके दस्तर जाते। वहाँ जो सिर भुकाया तो १ बजे तक ढेर की ढेर फ़ाइलों को साफ़ करके तब २ बजे के करीब उठकर कुछ जलपान किया करते। लौटकर अँगरेजी अखबार अवलोकन करते और जो काम आता जाता उसे समाप्त करते। चार-पाँच बजे के करीब घर आकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर दरवाजे पर बैठ जाते। जो लोग आते उनसे वार्तालाप होता। किसी को नेक सलाह देना, किसी की जारूरत पूरी कराने की चिन्ता करना—घंटे डेढ़ घंटे यही दिलवहलाव होता। इसके बाद फिर किताबों का अवलोकन करके ६-१० बजे तक विस्तर पर चले जाते।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई जिसने छिवेदी जी को पूर्णतया साहित्य के चेत्र में लाकर रख दिया। पुराने ढी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिंटेंडेंट) की बदली होने पर उनकी जगह जो नये साहब आये उनसे और छिवेदी जी से एक दिन कहा-सुनी हो गई। स्वाभिमानी तो छिवेदी जी थे ही; आपने रेलवे की १५०) की नौकरी पर लात मार दी और आकर कानपुर के पास जुही में रहने लगे और वहाँ से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

---

'सुधा' को ही प्रमिलि मिली। भरकार ने भी धन और पद द्वारा भारतेन्दु की सेवाओं का मान किया। परन्तु जब वायू हरिश्चन्द्र राजनीतिक मामलों में टीका-टिप्पणी करने लगे तब भरकार ने सहायता बन्द कर दी। 'अभिभावी हरिश्चन्द्र' इनसे द्वौत्तराह नहीं हुए और 'कवियचन-सुभा' के खुल्ले समय तक प्रकाशित करते रहे। मन १८८५ में यह पत्रिका भी बन्द हो गई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पत्रिका-प्रकाशन-सम्बन्धी इस सद्बोग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के लेखकों का एक अच्छा सङ्ग स्थापित हो गया। भारतेन्दु वी द्वारा और उनके स्वाभिभाव ने उन लेखकों के हृदय में हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। अतः उन लेखकों को भी पत्र-पत्रिकार्य लिखाने का शौक हुआ और भारतेन्दु के जीवन-काल में ही हिन्दी में २०-२५ पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें में कुछ पत्र-पत्रिकाओं और उनके संपादकों के नाम इस प्रकार हैं—

पत्र-पत्रिका का नाम	समय	संपादक	स्थान
(१) अलमोड़ा-अखबार	मन १८८१	श्री सदानन्द	मालवीय, अलमोड़ा
(२) हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश	„ १८८२	„ कार्तिकप्रसाद घंवी	
(३) विहार-बंधु	„ १८८२	„ केशवराम भट्ट, विहार	
(४) मदादर्श	„ १८८४	„ निवासदाम, दिल्ली	
(५) काशी-पत्रिका	„ १८८६	„ लक्ष्मीशंकर मिश्र, ग्राम १०, काशी	
(६) भारत-बंधु	„ १८८६	„ तोताराम, अलीगढ़	
(७) भारत-मित्र	„ १८८७	„ रुद्रदत्त, कलकत्ता	
(८) मित्र-विलास	„ „	„ कन्हैयालाल, लाहौर	

'मुद्रा' को ही प्रनिलिंग मिली। भरकार ने भी धन और वट छारा भारतेन्दु की सेवाओं का मान किया। परन्तु जब धारू हरिश्चन्द्र राजनीतिक गान्डीजी में टीका-टिप्पणी करते लगे तब भरकार ने सहायता बन्द कर दी। 'अभिमानी हरिश्चन्द्र' उससे हतोत्ताह नहीं हुए और 'कवियचन-मुद्रा' को कुछ समय तक प्रकाशित करते रहे। मन १८८५ में यह पत्रिका भी बन्द हो गई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पत्रिका-प्रकाशन सम्बन्धी इस सदृशोग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के लेखकों का एक अच्छा सङ्ग स्थापित हो गया। भारतेन्दु की दृढ़ता और उनके स्वाभिमान ने उन लेखकों के हृदय में हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। अतः उन लेखकों को भी पत्र-पत्रिकायें निकालने का शौक हुआ और भारतेन्दु के जीवन-काल में ही हिन्दी में २०-२५ पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें से कुछ पत्र-पत्रिकाओं और उनके संपादकों के नाम इस प्रकार हैं—

पत्र-पत्रिका का नाम	समय	संपादक	स्थान
(१) अलमोड़ा-अखदार	मन १८८१	श्री सदानंद	मालवीय, अलमोड़ा
(२) हिन्दी-दीपि-प्रकाश	„ १८८२	„, कार्तिकप्रसाद घट्टी	
(३) विहार-वंधु	„ १८८२	„, केशवराम भट्ट, विहार	
(४) मदादर्शी	„ १८८४	„, निवासदाम, दिल्ली	
(५) काशी-पत्रिका	„ १८८६	„, लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०, काशी	
(६) भारत-वंधु	„ १८८६	„, तोताराम, अलीगढ़	
(७) भारत-मित्र	„ १८८७	„, रुद्रदत्त, कलकत्ता	
(८) मित्र-विलास	„ „	„, कन्हैयालाल, लाहौर	

आदि अनेक पत्र और भी निकलने थे। पर इनमें से अधिकांश शीघ्र ही बंद हो गये।

इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित घटने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि लोग हिन्दी की नेवा की और ध्यान देने लगे। परन्तु भारतेन्दु-सरोखे उत्साही लेखकों के पश्चात् हिन्दी की दशा फिर डावँडोल हो चली। लोग उर्दू को अपनाने लगे; उसी की पुस्तकें खपती और विकती थीं—हिन्दी की कभी एक-आध पुस्तक छप गई तो छप गई। एक बार किसी ने स्वर्गीय राज बहादुर लाला वैजनाथ से पूछा था—आप हिन्दी तो मूँझ लिख सकते हैं। फिर अपनी पुस्तकें अधिकतर उर्दू में ही क्यों छपवाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हिन्दी की पुस्तकों की कार्ड वात भी पूछता है? ‘विद्यान-विवाह’ पर लिखी हुई हिन्दी की सेरी पुस्तक की प्रतियाँ आज भी मेरे पास पड़ी हुई हैं, पर उनका जो उल्था उर्दू में निकला था उसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी के लिए वास्तव में यह बड़े संकट का समय था; पर भाग्य ने साथ दिया। सन् १८६३ में कुछ हिन्दी-पत्रियों ने, जिनमें वावू र्यामसुन्दरदास और पंडित रामनारायण मिथ मुख्य थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस संस्था ने हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े जोर से करना आरंभ किया; शीघ्र ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग इसके कार्यों की प्रशंसा करने लगे। इस संस्था के कार्य-कर्त्ताओं के प्रयत्न करने पर सन् १८०० में सरकारी कबहरियाँ में नागरी का प्रवेश हो गया।

इसी साल इंडियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय वावू चिन्तामणि धोप ने ‘सरस्वती’ नाम की पत्रिका को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से जन्म दिया। इस पत्रिका का पहला अंक

आदि अनेक पत्र और भी निकलते थे। पर हनमें से अधिकांश शीघ्र ही बंद हो गये।

इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि लोग हिन्दी की भेवा की और ध्यान देने लगे। परन्तु भारतेन्दु-सराखे उत्साही लेखकों के पहचान हिन्दी की दशा किरणावाँडोल हो चला। लोग उन्हें को अपनाने लगे; उसी की पुस्तकें स्वयंती और विकती थीं—हिन्दी की कभी एक-आद्य पुस्तक छप गई तो छप गई। एक बार किसी ने स्वर्गीय राय बहादुर लाला वैजनाथ से पूछा था—आप हिन्दी तो मूँझ लिख सकते हैं। फिर अपनी पुस्तकें अधिकतर उन्हें में ही क्यों छपवाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हिन्दी की पुस्तकों की काई बात भी पूछता है? ‘धिवानविवाह’ पर लिखी हुई हिन्दी की मेरी पुस्तक की प्रतियाँ आज भी मेरे पास पड़ी हुई हैं, पर उनका जो उल्था उर्दू में निकला था उसका दूसरा मंत्ररण भी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी के लिए वास्तव में यह बड़े संकट का समय था; पर भाग्य ने साथ दिया। सन् १८८३ में कुछ हिन्दी-प्रयोगों ने, जिनमें वावू र्यामसुन्दरदास और पंडित रामनारायण मिथ्र मुख्य थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस संस्था ने हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े जोर से करना आरंभ किया; शीघ्र ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग इसके कार्यों की प्रशंसा करने लगे। इस संस्था के कार्य-कर्त्ताओं के प्रयत्न करने पर सन् १८०० में सरकारी कचहरियाँ में नागरी का प्रवेश हो गया।

इसी साल इंडियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय वावू चिन्तामणि धोप ने ‘सरस्वती’ नाम की पत्रिका को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से जन्म दिया। इस पत्रिका का पहला अंक

## ‘सरस्वती’ में विविध विषय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः एक ही विषय को प्रधानता रहती थी। स्वयं भारतेन्दु जी की ‘कवि-वचन-सुधा’ में प्राचीन कवियों का काव्य ही प्रकाशित होता था। देव का ‘अष्टयाम’, चन्द्र का ‘रासो’, जायसी का ‘पद्मावत’, कवीर की साखियाँ, बिहारी के दोहे आदि के ही प्रकाशन की ओर लोग दृत्तचित्त थे। पर शीघ्र ही इस प्रथा का अंत हो गया। ‘कवि-वचन-सुधा’ पाद्धिक होकर साप्ताहिक हो गई; ‘हरिश्चन्द्र-मैगजीन’ भी निकली। धीरे-धीरे इनमें समाज-नीति और धर्म-नीति पर भी लेख निकलने लगे। भारतेन्दु जी का, कालान्तर में, ध्यान देश की दशा की ओर गया। अतः राजनीति पर भी लेख निकलने आरम्भ हुए। उनका सिद्धान्त-वाक्य यह था—

खल गगन सों सज्जन दुखो मति होहि, हरि पद मति रहै।

अपधर्म कूटै स्वत्व निज भारत गहै कर-दुख वहै॥

बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होंहि जग आनंद ल है॥

तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत-वानी सब कहै॥

इन पंक्तियों के रेखांकित भागों पर गौर करने से विदित होता है कि भारतेन्दु जी के इस सिद्धान्त में राजनीति, समाज-नीति, धर्मनीति, सबकी चिन्ता है। वे शिक्षित समाज, अँगरेज-शासकों और पुरानी लकीर के फ़कीरों पर भी निडर होकर साफ़-साफ़ छीटे फेंका करते थे। ‘हरिश्चन्द्र मैगजीन’ में भारतेन्दु का ‘पाँचवें पैगम्बर’, श्री ज्वालाप्रसाद की

# ‘सरस्वती’ में विविध विषय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः एक ही विषय को प्रधानता रहती थी। स्वयं भारतेन्दु जी की ‘कवि-वचन-सुधा’ में प्राचीन कवियों का काव्य ही प्रकाशित होता था। देव का ‘अष्ट्याम’, चन्द्र का ‘रासो’, जायसी का ‘पद्मावत’, कवीर की साखियाँ, विहारी के दोहे आदि के ही प्रकाशन की ओर लोग दृत्तचित्त थे। पर शीघ्र ही इस प्रथा का अंत हो गया। ‘कवि-वचन-सुधा’ पाद्धिक होकर साप्ताहिक हो गई; ‘हरिश्चन्द्र-मैगज्जीन’ भी निकली। धीरे-धीरे इनमें समाज-नीति और धर्म-नीति पर भी लेख निकलने लगे। भारतेन्दु जी का, कालान्तर में, ध्यान देश की दशा की ओर गया। अतः राजनीति पर भी लेख निकलने आरम्भ हुए। उनका सिद्धान्त-वाक्य यह था—

खल गगन से ऊं सज्जन दुखी मति होहि, हरि पद मति रहै।

अपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत गहै कर-दुख वहै॥

बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहि जग आर्नद ल है॥

तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत-वानी सब कहै॥

इन पंक्तियों के रेखांकित भागों पर गौर करने से विदित होता है कि भारतेन्दु जी के इस सिद्धान्त में राजनीति, समाज-नीति, धर्मनीति, सबकी चिन्ता है। वे शिक्षित समाज, अङ्गरेज-शासकों और पुरानी लकीर के फ़क्कीरों पर भी निडर होकर साफ़-साफ़ छीटे फेंका करते थे। ‘हरिश्चन्द्र मैगज्जीन’ में भारतेन्दु का ‘पाँचवें पैगम्बर’, श्री ज्वालाप्रसाद की

उक्तदोनों पत्रिकाओं के बाद परिणाम समाज के ‘ब्राह्मण’ और बालकृष्ण भट्ट के ‘हिन्दी-प्रदीप’ का नंबर आता है। मिश्र जी ने अपने ‘ब्राह्मण’ का उद्देश ‘हमारी आवश्यकता’ शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—

“जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने ‘चहुन’ से पढ़ लिये। यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोग्योगी शिक्षा रहती है, पर वाग्-जाल में फँसी हुई द्वौङ निकालने-योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोगनीय हों तथा हास्पपूर्ण न होके सोधी सोधी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि ढन्हें नीरस समझ के छोड़ न दिया करें, तथा केवल पढ़ हो न दाला करें, वरंच उनके लिए तन से धन, से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकास कुछ करते भी रहें।”

मिश्र जी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्य-सेवा के साथ-साथ ‘ब्राह्मण’ का उद्देश्य जन-साधारण की प्रवृत्ति को हिंदी की ओर आकर्षित करना था। मिश्र जी साहित्यिक उत्थान के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का निवारण भी चाहते थे। उन्होंने अनेक लेखों में समाज के दोपों का उल्लेख भी किया।

इसके विपरीत भट्ट जी का ‘हिंदी-प्रदीप’ एक साहित्यिक पत्र था उसमें कभी-कभी राजनीति के लेख भी छपा करते थे। हाँ, सामाजिक लेख कुछ कम होते थे। यह पत्र लगभग ३० वर्ष तक निकलता रहा। इसकी साहित्यिक सेवाओं के विषय में भट्ट जी ने स्वयं ही लिखा है:—

“इन बत्तीस साज की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक, तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे यदि पुस्तकालार छपा

उक्तदोनों पत्रिकाओं के बाद पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के ‘ब्राह्मण’ और बालकृष्ण भट्ट के ‘हिन्दी-प्रदीप’ का नंबर आता है। मिश्र जी ने अपने ‘ब्राह्मण’ का उद्देश ‘हमारी आवश्यकता’ शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—

“जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये। यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोग्यतागी शिक्षा रहती है, पर बाग्-जाल में फँसी हुई हूँड निकालने-योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हों तथा हास्यपूर्ण न होके सोधी सीधी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि ढन्हें नीरस समझ के छोड़ न दिया करें, तथा केवल पढ़ ही न ढाला करें, बरंच उनके लिए तन से धन, से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकास कुछ करते भी रहें।”

मिश्र जी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्य-सेवा के साथ-साथ ‘ब्राह्मण’ का उद्देश्य जन-साधारण की प्रवृत्ति को हिंदी की ओर आकर्षित करना था। मिश्र जी साहित्यिक उत्थान के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का निवारण भी चाहते थे। उन्होंने अनेक लेखों में समाज के दोषों का उल्लेख भी किया।

इसके विपरीत भट्ट जी का ‘हिंदी-प्रदीप’ एक साहित्यिक पत्र था उसमें कभी-कभी राजनीति के लेख भी छपा करते थे। हाँ, सामाजिक लेख कुछ कम होते थे। यह पत्र लगभग ३० वर्ष तक निकलता रहा। इसकी साहित्यिक सेवाओं के विषय में भट्ट जी ने स्वयं ही लिखा है:—

“इन बत्तीस साज की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक, तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे यदि पुस्तकाकार छपा

अँगरेजी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो शास्त्र इतने पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वयं शुक्रदेव जी भी न पढ़े होंगे। यद्यपि यह बहुत ही क्षिळ्ली शिक्षा थी, परन्तु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पांडित्य चाहेन हो, परन्तु एक अभिज्ञता जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी वृत्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकायें अँगरेजी में निकलीं उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनको पहुँच नहीं थी।” द्विवेदी जी को यह कभी बहुत अखरती थी। अब ‘सरस्वती’ द्वारा उन्होंने इस कमी को पूरा करने का निश्चय किया। उद्देश्य की पूर्ति में एक वाधा यह थी कि जनता में पढ़ने का शौक बहुत ही कम था। अतः उन्होंने पहले अपने पाठकों की रुचि को हिंदीसाहित्य की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। ‘सरस्वती’ के एक अंक में उन्होंने लिखा—

“लेखों से ‘सरस्वती’ की सहायता करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक रोचक ज्ञान की कृपा करें।”

ऊपर हम लिख चुके हैं कि परिणित प्रतापनारायण मिश्र ने भी एक बार अपने लेखकों से ऐसी ही प्रार्थना की थी। परं परिस्थिति ने उनका साथ न दिया और उन्हें ‘ब्राह्मण’ को शीघ्र ही बन्द कर देना पड़ा। द्विवेदी जी इसे देख चुके थे, इसलिए सावधान थे। शीघ्र ही उन्होंने अपने लेखकों और पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों के ग्रन्ति अभिरुचि बढ़ाने के लिए उत्साहित किया और बढ़ती हुई लवीन शिक्षा द्वारा शिक्षित जवायुवक प्राठकों की

अँगरेजी, उद्दे, संस्कृत, फारसी, आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो शास्त्र इतने पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वयं शुकदेव जी ने भी न पढ़े होंगे। यद्यपि वह बहुत ही छिक्कली शिक्षा थी, परन्तु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पांडित्य चाहे न हो, परन्तु एक अभिज्ञता जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी वृत्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकायें अँगरेजी में निकलीं उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनको पहुँच नहीं थी।” द्विवेदी जी को यह कभी बहुत असरती थी। अब ‘सरस्वती’ द्वारा उन्होंने इस कभी को पूरा करने का निश्चय किया। उद्देश्य की पूर्ति में एक वाधा यह थी कि जनता में पढ़ने का शौक बहुत ही कम था। अतः उन्होंने पहले अपने पाठकों की रुचि को हिंदीसाहित्य की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। ‘सरस्वती’ के एक अंक में उन्होंने लिखा—

“लेखों से ‘सरस्वती’ की सहायता करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक रोचक बनाने की कृपा करें।”

ऊपर हम लिख चुके हैं कि परिडत प्रतापनारायण मिश्र ने भी एक बार अपने लेखकों से ऐसी ही प्रार्थना की थी। पर परिस्थिति ने उनका साथ न दिया और उन्हें ‘त्राह्मण’ को शीघ्र ही बन्द कर देना पड़ा। द्विवेदी जी इसे देख चुके थे, इसलिए सावधान थे। शीघ्र ही उन्होंने अपने लेखकों और पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों के प्रति अभिरुचि बढ़ाने के लिए उत्साहित किया और बढ़ती हुई जीवन शिक्षा द्वारा शिक्षित जवाहरक पाठकों की

था कि अबसर पाते ही उन्होंने ‘सरस्वती’ को निभिन्न विषयों से विभूषित करके उसे विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका बनाया। संस्कृत-साहित्य, जीवन-चरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिन्दी-भाषा, शासन-पद्धति, शिक्षा, प्राचीन अनुसंधान, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्त्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति आदि अनेकानेक विषयों के लेख ‘सरस्वती’ में प्रकाशित होने लगे। संपादक के लिए तो इनमें से अधिकांश विषयों का ज्ञान वे आवश्यक भी समझते थे। बँगला के ‘प्रवासी’ में ‘संपादकों को किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए,’ इस पर एक लेख छपा था। उसी की वातों का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

“संपादकों को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान आवश्य होना चाहिए—इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राष्ट्र-विज्ञान, समाज तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपरांध-तत्त्व (Criminology), अनेक लैटिक और वैपर्यिक व्यापारों का संख्या-संबंधी शास्त्र (Statistics), पौर और जानपद वग के अधिकार और कर्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शांतिरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा पद्धति और कृषि-वाणिज्य का वृत्तांत। देश का स्वारथ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कृष्ट-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों पर संपादकों को लेख लिखना चाहिए।”

था कि अवसर पाते ही उन्होंने ‘सरस्वती’ को चिमिन्न विषयों से विभूषित करके उसे विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका बनाया। संस्कृत-साहित्य, जीवन-चरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिन्दी-भाषा, शासन-पद्धति, शिक्षा, प्राचीन अनुसंधान, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्त्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति आदि अनेकानेक विषयों के लेख ‘सरस्वती’ में प्रकाशित होने लगे। संपादक के लिए तो इनमें से अधिकांश विषयों का ज्ञान वे आवश्यक भी समझते थे। बँगला के ‘प्रवासी’ में ‘संपादकों को किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए,’ इस पर एक लेख छपा था। उसी की वातों का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

“संपादकों को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए—इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राष्ट्र-विज्ञान, समाज तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लैटिक और वैपर्यिक व्यापारों का संख्यासंबंधी शास्त्र (Statistics), पौर और जानपद वग के अधिकार और कर्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शांतिरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा पद्धति और कृषि-वाणिज्य का वृत्तांत। देश का स्वारथ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों पर संपादकों को लेख लिखना चाहिए।”

भेजा उसका सारांश यह था कि अमुक-अमुक पुस्तकों में इस विषय की सुन्दर विवेचना की गई है। लेखक महाशय को चाहिए कि उन्हें एक बार पढ़ें और तब अपना लेख सुधार कर प्रकाशित करायें। ऐसा था द्विवेदी जी का विस्तृत अध्ययन, जिसका कायल सबको होना पड़ता था।

ऊपर जिन विषयों की सूची दी गई है उनमें अधिकांश बड़े शुष्क और गम्भीर हैं; फिर नये विषयों की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्पित करना आसान भी नहीं होता। द्विवेदी जी को इन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता था। अतः विषय को रोचक और शैली को सरल और स्पष्ट बनाने का वे सदा ही प्रयत्न किया करते थे। फलतः ‘सरस्वती’ में प्रकाशित लेखों में गम्भीरता के साथ साथ प्रचुर मात्रा में रोचकता, सरलता और माधुर्य भी मिलता था; ज्योतिप, वेदाङ्ग आदि रुखें-सूखे विषयों पर भी बड़े मनोमोहक और रोचक लेख उन्होंने लिखवाये। इससे ‘सरस्वती’ का जनता में बड़ा आदर होने लगा।

सामयिक विषयों का चयन और सङ्कलन करते समय वे एक आदर्शवादी सुधारक बन जाते थे। भारतवासी अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि की रक्षा करें, यही उनका उद्देश्य और आदर्श था। अतः वे अपने पाठकों को संसार में आज कैसी उन्नति हो रही है, कौन-कौन देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, भारत की वास्तविक स्थिति और दशा क्या है, आदि बातों से पूर्ण परिचित रखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था; प्रायः अँगरेजी, मराठी, वैंगला, गुजराती आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की उल्लेखनीय टिप्पणियों का अनुवाद वे ‘सरस्वती’

भेजा उसका सारांश यह था कि अमुक-अमुक पुस्तकों में इस विषय की सुन्दर विवेचना की गई है। लेखक महाशय को चाहिए कि उन्हें एक बार पढ़ें और तब अपना लेख सुधार कर प्रकाशित करायें। ऐसा था द्विवेदी जी का विस्तृत अध्ययन, जिसका कायल सबको होना पड़ता था।

ऊपर जिन विषयों की सूची दी गई है उनमें अधिकांश बड़े शुष्क और गम्भीर हैं; फिर नये विषयों की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्षित करना आसान भी नहीं होता। द्विवेदी जी को इन सभी वातों का ध्यान रखना पड़ता था। अतः विषय को रोचक और शैली को सरल और स्पष्ट बनाने का वे सदा ही प्रयत्न किया करते थे। फलतः ‘सरस्वती’ में प्रकाशित लेखों में गम्भीरता के साथ साथ प्रचुर मात्रा में रोचकता, सरलता और माधुर्य भी मिलता था; ज्योतिप, वेदाङ्ग आदि खुखे-नसूखे विषयों पर भी वड़े मनोमोहक और रोचक लेख उन्होंने लिखवाये। इससे ‘सरस्वती’ का जनता में बड़ा आदर होने लगा।

सामयिक विषयों का चयन और सङ्कलन करते समय वे एक आदर्शवादी सुधारक बन जाते थे। भारतवासी अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि की रक्षा करें, यही उनका उद्देश्य और आदर्श था। अतः वे अपने पाठकों को संसार में आज कैसी उन्नति हो रही है, कौन-कौन देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, भारत की वास्तविक स्थिति और दशा क्या है, आदि वातों से पूर्ण परिचित रखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था; प्रायः अँगरेजी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की उल्लेखनीय टिप्पणियों का अनुवाद वे ‘सरस्वती’

आरम्भ में ही हिन्दी-भाषा-भाषियों का हड्डय-हार बन गई तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? वास्तव में जनता उस समय ज्ञानार्जन करना चाहती थी। परिस्थिति एक ही विषय के विशेषज्ञ को महत्त्व न देकर ऐसे व्यक्ति को चाहती थी जिसका ज्ञान विस्तृत हो। द्विवेदी जी इस बात को भली भाँति समझ गये थे। ऊपर दिया हुआ उनका नोट इस बात का प्रमाण है। ‘सरस्वती’ की रीति-नीति स्थिर करते समय उन्होंने यही आदर्श सामने रखा। प्राचीन काल के सभी विषयों में पारंगत एक गुरु की तरह वे अपने पाठकों की ज्ञान-बुद्धि के साथ उनमें ज्ञानार्जन-बृत्ति भी उत्पन्न करना चाहते थे। कालांतर में उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। ‘सरस्वती’ ने थोड़े ही समय में इतने स्नातक उत्पन्न कर दिये जितने शायद एक विश्वविद्यालय न पैदा कर सकता। ये स्नातक पढ़वीधारी न होने पर भी शायद ज्ञान में छिगरीचालों से कम न थे। ‘सरस्वती’ के इस स्नातक-निर्माण-कार्य की आलोचना करते हुए द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ में लिखा गया है—

“यदि हम हस कसौटी पर ‘सरस्वती’ की परीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेजी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषायें न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने-अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित न हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक ‘सरस्वती’ की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मतिगति-निर्माण करते थे वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बड़ुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि ‘सरस्वती’ की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों का ( संभवतः कविता को छोड़ कर ) किसी विषय में संकुचित

आरम्भ में ही हिन्दी-भाषा-भाषियों का हृदय-हार बन गई तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? वास्तव में जनता उस समय ज्ञानार्जन करना चाहती थी। परिस्थिति एक ही विषय के विशेषज्ञ को महत्त्व न देकर ऐसे व्यक्ति को चाहती थी जिसका ज्ञान विस्तृत हो। द्विवेदी जी इस बात को भली भाँति समझ गये थे। ऊपर दिया हुआ उनका नोट इस बात का प्रमाण है। ‘सरस्वती’ की रीति-नीति स्थिर करते समय उन्होंने यही आदर्श सामने रखवा। प्राचीन काल के सभी विषयों में पारंगत एक गुरु की तरह वे अपने पाठकों की ज्ञान-बृद्धि के साथ उनमें ज्ञानार्जन-बृत्ति भी उत्पन्न करना चाहते थे। कालांतर में उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। ‘सरस्वती’ ने थोड़े ही समय में इतने स्नातक उत्पन्न कर दिये जितने शायद एक विश्वविद्यालय न पैदा कर सकता। ये स्नातक पदवीधारी न होने पर भी शायद ज्ञान में डिगरीवालों से कम न थे। ‘सरस्वती’ के इस स्नातक-निर्माण-कार्य की आलोचना करते हुए द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ में लिखा गया है—

“यदि हम इस कसौटी पर ‘सरस्वती’ की परीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेजी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषायें न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने-अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित न हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक ‘सरस्वती’ की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मतिगति-निर्माण करते थे वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ सकें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि ‘सरस्वती’ की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को ( संभवतः कविता को छोड़ कर ) किसी विषय में संकुचित

## लेखक-निर्माण

हम पीछे लिख आये हैं कि वीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-संसार में बड़ी धाँधली मची हुई थी। पत्र-पत्रिकायें निकलती थीं और उनमें मनमाने लेख भरे जाते थे। ये लेख कभी तो मित्रों के होते थे और कभी सम्पादक महोदय के ही। पत्र-संचालकों या सम्पादकों को जनता की रुचि की कुछ भी चिन्ता न थी; वे केवल अँगरेजी और बँगला की नकल करके अपनी सम्पादक बनने की हवस पूरी करना चाहते थे।

'सरस्वती' का सम्पादन हाथ में आते ही द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि विना योग्य लेखक और पाठक उत्पन्न किये हिन्दी की दशा में सुधार होना असम्भव है। उन दिनों हिन्दी में लेखक थे भी इनें-गिने। जो थे भी वे लकीर के फ़क़ीरों की तरह पुराने विषयों को ही कविता करने और गद्य लिखने के लिए अंपनाते थे। भापाशैली और व्याकरण पर तो कोई ध्यान ही नं देता था। द्विवेदी जी ने इस अनियमितता को सेकने का भारी प्रयत्न किया और इस प्रकार के दोष-पूर्ण लेखों का प्रकाशन एकदम बन्द कर दिया। लोग लेख भेजते थे। द्विवेदी जी उनके दोष दिखा कर लौटती डाक से ही वापस कर देते थे। इससे दक्षियानूसी लेखकों में बड़ा असंतोष फैल गया। द्विवेदी जी ने इसकी कुछ चिन्ता न की। जब तक अच्छे लेख न मिले, उन्होंने स्वयं इतना परिश्रम किया कि 'सरस्वती' का पूरा मेटर प्रायः खुद ही तैयार करने लगे। वे विभिन्न विषयों का अध्ययन करके लिखते थे और कल्पित नाम से छपा देते थे। द्विवेदी जी की चौमुखी प्रतिभा इन दिनों देखने योग्य थी। वे कभी

## लेखक-निर्भाणा

हम पीछे लिख आये हैं कि वीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-संसार में बड़ी धाँधली मची हुई थी। पत्र-पत्रिकायें निकलती थीं और उनमें मनमाने लेख भरे जाते थे। ये लेख कभी तो मित्रों के होते थे और कभी सम्पादक महोदय के ही। पत्र-संचालकों या सम्पादकों को जनता की रुचि की कुछ भी चिन्ता न थी; वे केवल अँगरेजी और बँगला की नकल करके अपनी 'सम्पादक वनने' की हवस पूरी करना चाहते थे।

'सरस्वती' का सम्पादन हाथ में आते ही द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि विना योग्य लेखक और पाठक उत्पन्न किये हिन्दी की दशा में सुधार होना असम्भव है। उन दिनों हिन्दी में लेखक थे भी इनें-गिने। जो थे भी वे लकीर के फ़क्कीरों की तरह पुराने विषयों को ही कविता करने और गद्य लिखने के लिए अपनाते थे। भाषाशैली और व्याकरण पर तो कोई ध्यान ही न देता था। द्विवेदी जी ने इस अनियमितता को रोकने का भारी प्रयत्न किया और इस प्रकार के दोष-पूर्ण लेखों का प्रकाशन एकदम बन्द कर दिया। लोग लेख भेजते थे। द्विवेदी जी उनके दोष दिखा कर लौटती डाक से ही वापस कर देते थे। इससे दक्षियानूसी लेखकों में बड़ा असंतोष फैल गया। द्विवेदी जी ने इसकी कुछ चिन्ता न की। जब तक अच्छे लेख न मिले, उन्होंने स्वयं इतना परिश्रम किया कि 'सरस्वती' का पूरा मेटर प्रायः खुद ही तैयार करने लगे। वे विभिन्न विषयों का अध्ययन करके लिखते थे और कल्पित नाम से छपा देते थे। द्विवेदी जी की चौमुखी प्रतिभा इन दिनों देखने योग्य थी। वे कभी

और यदि लिखते भी थे तो अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं में; हिन्दी में लिखने में 'शायद' वे अपना अपमान तक समझते थे। छिवेदी जी सामयिक पत्रों में ऐसे लेखकों के लेख पढ़ा करते थे और प्रयत्न करते थे कि ये लोग हिन्दी में भी लिखें। यह प्रयत्न कभी-कभी व्यतिरेक-युक्ति-साधन के रूप में भी देखा जाता था। एक ऐसे ही लेखक के विषय में वे लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान रिव्यू का जुलाई १९१४ का अंक इस समय हमारे सामने है। उसमें घोटो और शंकराचार्य के तत्त्व-ज्ञान पर एक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आई० है० पुस्त०। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी बड़ीफ़ा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्षा करने के लिए योरप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हङ्क नहीं, जिनसे वसूल हुआ रुपया बड़ीफ़े के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ा है? क्या केवल अँगरेजीदाँ इन्हरत ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, कालेज और बड़ीफ़े उन्हीं के घर के रूपये से चबते और मिलते हैं? आप जोगों को अपने घर की भी स्वयं रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे ढंड पेकते हैं वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूं की गाड़ियाँ उलटाने लाय तो कितने आश्चर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से ई नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेजीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। किन्तु नहीं आता तो संतिष्ठ, अपना फर्ज्य पालन कीजिए।"

इन चेतावनियों से बहुत से लोग तो रास्ते पर आगये और हिन्दी में लिखने लगे, पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो बात बात  
फा० ३

और यदि लिखते भी थे तो अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं में; हिन्दी में लिखने में 'शायद' वे अपना अपमान तक समझते थे। द्विवेदी जी सामयिक पत्रों में ऐसे लेखकों के लेख पढ़ा करते थे और प्रयत्न करते थे कि ये लोग हिन्दी में भी लिखें। यह प्रयत्न कभी-कभी व्यतिरेक-युक्ति-साधन के रूप में भी देखा जाता था। एक ऐसे ही लेखक के विषय में वे लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान रिव्यू का जुलाई १९१४ का थंक इस समय हमारे सामने है। उसमें घेटो और शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान पर पृक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आर्ह० है० एस०। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी वर्जीफा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्ष करने के लिए योरप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक नहीं, जिनसे बसूल हुआ रूपया वर्जीफे के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँगरेजीदाँ इजरायल ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, काबेज और वर्जीफे उन्हीं के घर के रूपये से चबते और मिलते हैं? आप जोगों को अपने घर की भी खबर रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे ढंड पेकते हैं वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गोहृ की गाडियाँ उटाने जाय तो कितने धारचर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से छी नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेजीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। किन्तु न नहीं आता तो सोखिए, अपना कर्तव्य पालन कीजिए!"

इन चेतावनियों से बहुत से लोग तो रास्ते पर आगये और हिन्दी में लिखने लगे, पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो बात बात का० ३

साहित्य-सेवा से अपना हाथ खींच लिया था । अब उनको एक ऐसा व्यक्ति ललकार रहा था जिसने अपना तन, मन और धन मातृभाषा की उन्नति के लिए अर्पण कर दिया था । अतः मातृभाषा के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया । द्विवेदी जी तो चाहते ही थे कि हिन्दी-भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं में पीछे लिखें, पहले अपनी मातृभाषा की यथोचित उन्नति कर लें । अतः उन्होंने इन लोगों का सहर्ष स्वागत किया । परिणाम-स्वरूप डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, श्री शिवचन्द्र भारतीय, पंडित गौरीदत्त बाजपेयी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पंडित नाथराम शर्मा, पंडित शुकदेव तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिकु, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमन्तसिंह, श्री गिरिजाकुमार घोष, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित चेङ्टेशनारायण तिवारी, श्री चूजनन्दनसहाय, स्वामी सत्यदेव, पंडित गिरिधर शर्मा नवरत्न, प्रभृति लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ कर दिया । इनमें कुछ लेखक तो उनके समकालीन थे परन्तु अन्तिम ५-७ लेखक नवयुवक ही थे जिनमें वे उपाधियों या डिग्रियों की ओर ध्यान न देकर प्रतिभा के कण ढूँढ़ा करते थे । सत्य ही वे प्रतिभा के उपासक थे; समर्थक थे । वे गुण-ग्राही थे और ऐसे पारस्पी जौहरी थे कि हीरे का उचित मूल्य देते थे, चाहे वह किसी निर्धन व्यक्ति के हाथ में ही क्यों न हो । परन्तु कृत्रिम की उन्हें परख थी और उसकी ओर से वे धृणा से दृष्टि फेर लिया करते थे ।

लेखकों-में से कई ऐसे भी थे जो विदेशी भाषाओं के परिष्ठप्त थे । इनका ज्ञान स्वभावतः बहुत विस्तृत था । इनमें से कई विद्वान् अँगरेजी के पत्रों में लेख लिखा करते थे । इन लेखों का विदेशों में भी बड़ा मान होता था । द्विवेदी जी ने सोचा कि यदि ऐसे विद्वान् हिन्दी पर कृपा

साहित्य-सेवा से अपना हाथ खींच लिया था । अब उनको एक ऐसा व्यक्ति ललकार रहा था जिसने अपना तन, मन और धन मातृभाषा की उन्नति के लिए अर्पण कर दिया था । अतः मातृभाषा के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया । द्विवेदी जी तो चाहते ही थे कि हिन्दी-भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं में पीछे लिखें, पहले अपनी मातृभाषा की यथोचित उन्नति कर लें । अतः उन्होंने इन लोगों का सहर्ष स्वागत किया । परिणाम-स्वरूप डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, श्री शिवचन्द्र भारतीय, पंडित गौरीदत्त वाजपेयी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पंडित नाथूराम शर्मा, पंडित शुक्देव तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिक, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमन्तसिंह, श्री गिरिजाकुमार धोष, पंडित सत्यनारायण कविरल, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित वेङ्कटेशनारायण तिवारी, श्री वृजनन्दनसहाय, स्वामी सत्यदेव, पंडित गिरिधर शर्मा नवरल, प्रभृति लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ कर दिया । इनमें कुछ लेखक तो उनके समकालीन थे परन्तु अन्तिम ५-७ लेखक नवयुवक ही थे जिनमें वे उपाधियों या डिगरियों की ओर ध्यान न देकर प्रतिभा के कण ढूँढ़ा करते थे । सत्य ही वे प्रतिभा के उपासक थे; समर्थक थे । वे गुण-ग्राही थे और ऐसे पारखी जौहरी थे कि हीरे का उचित मूल्य देते थे, चाहे वह किसी निर्धन व्यक्ति के हाथ में ही क्यों न हो । परन्तु कृत्रिम की उन्हें परख थी और उसकी ओर से वे घृणा से दृष्टि फेर लिया करते थे ।

लेखकों में से कई ऐसे भी थे जो विदेशी भाषाओं के परिणत थे । इनका ज्ञान स्वभावतः बहुत विस्तृत था । इनमें से कई विद्वान् अङ्गरेजी के पत्रों में लेख लिखा करते थे । इन लेखों का विदेशों में भी बड़ा मान होता था । द्विवेदी जी ने सोचा कि यदि ऐसे विद्वान् हिन्दी पर कृपा

करते थे। इनके बाद अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री सन्त निहालसिंह का नाम आता है। सन्त जी ने अमेरिका, चीन और जापान आदि देशों का भ्रमण कर ज्ञानोपार्जन किया था और इनके लेख 'भार्डन्सिव्य' में प्रकाशित होते थे। द्विवेदी जी ने वे लेख पढ़े और बहुत पसन्द किये; फिर सन् १९११ की फरवरी मास की 'सरस्वती' में उन्होंने सन्त जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया और अन्त में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा—

"सेन्ट जी से एक उल्लहना है। अँगरेजों न जाननेवाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने स्वयाज किया है या नहीं! सबसे अधिक तो इसी की झरूरत है। वह क्या आपके अँगरेजी लेखों से हो सकता है? जिस योरप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न आप भी कभी-कभी अपनी देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें? अपनी माँ की बोली की—अपनी देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है!"

इस उल्लहने की दाढ़ देकर सेन्ट जी ने कई लेख 'सरस्वती' में लिखे। इसी प्रकार रायसाहब छोटेलाल जी (वार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिप-वेदाङ्ग पर बड़े महत्त्व के गवेषणापूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' नामक अँगरेजी पत्र में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की थी। द्विवेदी जी ने भी इन्हें बहुत पसन्द किया। उन्होंने लेखक की प्रशंसा में संस्कृत में स्वयं एक पद बनाया। उसमें वार्हस्पत्य जी को आशीर्वाद भी दिया। वस, उसी दिन से द्विवेदी जी ने मानो उन्हें 'सरस्वती' के लिए मोल ले लिया। वार्हस्पत्य जी ने

करते थे। इनके बाद अँगरेजी के सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री सन्त निहालसिंह का नाम आता है। सन्त जी ने अमेरिका, चीन और जापान आदि देशों का भ्रमण कर ज्ञानोपार्जन किया था और इनके लेख 'मार्डनरिव्यू' में प्रकाशित होते थे। द्विवेदी जी ने वे लेख पढ़े और बहुत पसन्द किये; फिर सन् १९११ की फरवरी मास की 'सरस्वती' में उन्होंने सन्त जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया और अन्त में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा—

"सेन्ट जी से एक उल्लहना है। अँगरेजी न जाननेवाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने ख्वाजा किया है या नहीं! सबसे अधिक तो इसी की ज़रूरत है। वह क्या आपके अँगरेजी लेखों से हो सकता है? जिस योरप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्दन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न आप भी कभी-कभी अपनी देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें? अपनी माँ की बोली की—अपनी देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है!"

इस उल्लहने की दाढ़ देकर सेन्ट जी ने कई लेख 'सरस्वती' में लिखे। इसी प्रकार रायसाहब छोटेलाल जी (वार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिप-वेदाङ्ग पर वडे महत्त्व के गवेषणापूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' नामक अँगरेजी पत्र में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की थी। द्विवेदी जी ने भी इन्हें बहुत पसन्द किया। उन्होंने लेखक की प्रशंसा में संस्कृत में स्वयं एक पद बनाया। उसमें वार्हस्पत्य जी को आशीर्वाद भी दिया। वस, उसी दिन से द्विवेदी जी ने मानो उन्हें 'सरस्वती' के लिए मोल ले लिया। वार्हस्पत्य जी ने

परन्तु इन महाशय को द्विवेदी जी ने केवल उत्साहित कर-  
के नहीं छोड़ दिया। आगे चल कर उनसे प्रार्थना करते हुए  
लिखा—

“हमारे देशबंधु शांखेजी ऐसी किंवद्ध आपा को लिख कर उनके  
साहित्य-सागर को तो गँडला करते हो हैं, पर अपनी मातृभाषा  
बिखने की भी चेष्टा नहीं करते। यह दुर्भाग्य की बात है। क्या हो  
अच्छा हो यदि आप ‘मातृभाषा-विषयक मनुष्य का कर्तव्य’ या हृसी  
तरह के किसी विषय पर लेख लिख कर इन लोगों को लजित करें।

विनश्वावनन्  
महाकीरप्रसाद द्विवेदी”

द्विवेदी जी अपने लेखकों से भली भाँति परिचित रहते  
थे। कौन मनुष्य किस विषय का अच्छा लेखक बन सकता  
है, इसकी उन्हें अनोखी परख थी। नये कवियों की  
कविता लौटाते समय वे उनके दोष स्पष्टतया लिख देते थे,  
जिससे उन्हें भविष्य में अपनी उन्नति करने का सहारा मिल  
जाता था। यहो नहीं, वे कवियों को सामयिक रुचि के विषय  
भी बतलाते थे और उन पर कवितायें लिखने के लिए उन्हें  
उत्साहित करते थे। पंडित केशवप्रसाद मिश्र अपने विषय में  
एक ऐसे ही ग्रसंग का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

‘यों ही दस वर्ष बीत गये। सन् १९१५ के दिसम्बर में आखिर  
हिम्मत कर ही तो ढाली। ‘सुदामा’ पर एक लम्बी तुकबंदी  
लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि  
अब पंच बराबर होने में बस बस सिर्फ़ एक ही महीने की दैर है।  
‘सरस्वती’ में मेरो ‘कविता’ निकली कि मैं लेखकों में गिना गया।

परन्तु इन महाशय को द्विवेदी जी ने केवल उत्साहित कर-  
के नहीं छोड़ दिया । आगे चल कर उनसे प्रार्थना करते हुए  
लिखा—

“हमारे देशवधु शाँस्कृती ऐपी किंष्ठ आषा को लिख कर उनके  
साहित्य-सागर को तो गँदला करते हो हैं, पर अपनी मातृभाषा  
लिखने की भी चेष्टा नहीं करते । यह दुर्भाग्य की बात है । क्या हो  
अच्छा हो यदि आप ‘मातृभाषा-विषयक मनुष्य का कर्त्तव्य’ या हसी  
तरह के किसी विषय पर लेख लिख कर इन लोगों को लजित करें ।

विनयावनत  
महावीरप्रसाद् द्विवेदी”

द्विवेदी जी अपने लेखकों से भली भाँति परिचित रहते  
थे । कौन मनुष्य किस विषय का अच्छा लेखक बन सकता  
है, इसकी उन्हें अनोखी परख थी । नये कवियों की  
कविता लौटाते समय वे उनके दोष स्पष्टतया लिख देते थे,  
जिससे उन्हें भविष्य में अपनी उन्नति करने का सहारा मिल  
जाता था । यहो नहीं, वे कवियों को सामयिक रुचि के विषय  
भी बतलाते थे और उन पर कवितायें लिखने के लिए उन्हें  
उत्साहित करते थे । पंडित केशवप्रसाद् मिश्र अपने विषय में  
एक ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

‘यों ही दस वर्ष बीत गये । सन् १९१३ के दिसम्बर में आखिर  
हिमत कर ही तो ढाली । ‘सुदामा’ पर एक लम्बी तुकवंदी  
लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि  
यदि पंच बराबर होने में बस बस सिफ्ऱ एक ही महीने की देर है ।  
‘सरस्वती’ में मेरो ‘कविता’ निकली कि मैं लेखकों में गिना गया ।

“मैं एक बार उनके दर्शन को जुही पहुँचा। कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया।

“क्या पढ़ते हैं ?”

इस बार साहस करके कह दिया—“अधिकतर तो उपन्यास और गल्प ही पढ़ी हैं।”

“अच्छा ! कौन-कौन उपन्यास पढ़े हैं ?”

मैंने अङ्गरेजी, हिंदी, बँगला तथा डर्लू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

“उपन्यास तो खूब पढ़े हैं।”

“हाँ। और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।”

“बड़ी अच्छी बात है। छोटी-छोटी कहानियाँ और गल्प तो पढ़ी ही होंगी—वैसे ही लिखा कीजिए।”

“देखिए, प्रयत्न करूँगा।”

“द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ चरणों के पश्चात् बगल से पानों की ढिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और सुके दिये। इसके पश्चात् बोले—“मैं एक मिनिट में आता हूँ।” यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। लौटकर पुक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले—“बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पों पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके सुके दें—मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं क्रलंभ या पेंसिल का निशान लगाहएगा, न स्याही के धब्बे पढ़ने दीजिएगा, न पृष्ठे मोड़िएगा।”

“मैं एक बार उनके दर्शन को जुही पहुँचा। कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया।

“क्या पढ़ते हैं ?”

इस बार साहस करके कह दिया—“अधिकतर तो उपन्यास और गल्प ही पढ़ी हैं।”

“अच्छा ! कौन-कौन उपन्यास पढ़े हैं ?”

मैंने अङ्गरेजी, हिंदी, बँगला तथा उदूँ के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

“उपन्यास तो खूब पढ़े हैं।”

“हाँ। और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।”

“वडी अच्छी बात है। छोटी-छोटी कहानियाँ और गल्प तो पढ़ी ही होंगी—वैसे ही लिखा कीजिए।”

“देखिए, प्रयत्न करूँगा।”

“द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ शब्दों के पश्चात् बगल से पानों की डिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और सुझे दिये। इसके पश्चात् बोले—“मैं एक मिनिट में आता हूँ।” यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। खौटकर एक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले—“बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पों पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके सुझे दें—मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ज्ञान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं क्रलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्थाही के धब्बे पढ़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा।”

में 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूँ। इसके लिए उन्होंने आज्ञा दी। मैंने 'इस संबंध में धनेक युस्तके एल्जे कर के टोप लैशर किया। अनुभव कम-था और मसाला भाधिक, जल: लेल थे १० प्र० का तैयार हुआ। मैंने वह उनके पास भेज दिया। लौटती धाक से उन्होंने पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लेख प्रिस्त है या पोछा? और, इसे छापूँगा।

"समय पर सरस्वती" आई और मैंने आशवर्य और उत्तुरुता-पूर्वक देखा कि नाना फडनवीस का मेरा वह २० पृष्ठ में लिखा लेन छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला हतना उत्तम बंधा हुआ कि कहीं विश्वसनीयता मालूम ही नहीं दो। हतना ही नहीं, वहिक लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो त्यये पेज के हिसाब से १६) का मनीशार्ड भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्षा रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है कि जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति हतना सजग रहता है!"

वे यह भी चाहते थे कि उनके लेखक उन्हीं की भाँति सदैव लिखा करें। हर महीने वे उन्हें पत्र भेज रिमाइन्ड करा दिया करते थे। परिणत रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-सम्पादक) ने मुझसे कई बार यह बात कही है कि प्रतिमास छिवेदी जी कविता भेजने के लिए उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे। इसी प्रकार जो महाशय बहुत दिन तक 'सरस्वती' में कुछ न लिखते, उनसे वे जवाब भी तलब किया करते थे। वेचारा समय न मिलने का बहाना करता। परन्तु छिवेदी जी इससे न सन्तुष्ट होते और उत्तर देते—“जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना न मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।” बहुत से नवयुवक लेखक और कवि उनके

मैं 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूँ। इसके लिये उन्हें आज्ञा दी। मैंने इस संबंध में दोनों पुस्तकों के लेख लैशर किया। अनुभव कम-या और सखाका अधिक, अलग लेख भी २० पृष्ठ का तैयार हुआ। मैंने वह उनके पास भेज दिया। लौटते थे कि से उन्हें पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लेख जिसका है या पोछा? और, इसे छापूँगा।

"समय पर सरस्वती" आई और मैंने आश्वर्य और उत्कुरुता-पूर्वक देखा कि नाना फदनवीस का मेरा वह २० पृष्ठ में तिराले लेने छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बंधा हुआ कि कहीं विश्वलक्षण मालूम ही नहीं दो। इतना ही नहीं, वलिक लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो तप्ये ऐज के हिसाब से १६) का मनीशार्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्का रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है कि जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सज्ज रहता है!"

वे यह भी चाहते थे कि उनके लेखक उन्हीं की भाँति सदैव लिखा करें। हर महीने वे उन्हें पत्र भेज रिमाइन्ड करा दिया करते थे। परिणित रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-सम्पादक) ने मुझसे कई बार यह बात कही है कि प्रतिमास द्विवेदी जी कविता भेजने के लिए उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे। इसी प्रकार जो महाशय बहुत दिन तक 'सरस्वती' में कुछ न लिखते, उनसे वे जवाब भी तलब किया करते थे। वेचारा समय न मिलने का बहाना करता। परन्तु द्विवेदी जी इससे न सन्तुष्ट होते और उत्तर देते—“जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना न मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।” बहुत से नवयुवक लेखक और कवि उनके

की त्रुटियाँ दिखाई गईं थीं - विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की और मेरा ध्यान दिलाया गया था। उन दिनों सेै लागने आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र का, जिनकी संस्कृत विद्वत्ता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और मगन चस्तुतः अपूर्व था। पर पंडित गोविंदनारायण जी का गद्य कादंबरी का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यज्ञ कियाँ करता था। हिंदूवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और अपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों बाद मुझे हिंदूवेदी जी के इस कथन की सत्यता का अनुभव हुआ। मैं भी भाषा सरख और वाक्य छोटे करने का यज्ञ करने लगा। आज के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालूम हुआ, तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया। कार्यस्थेश से अवसर ग्रहण करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दयादृष्टि रखनेवाला आचार्य हिन्दी को पुनः कब्र प्राप्त होगा ?”

साथ ही उन्होंने ‘सरखती’ का स्टेरडर्ड भी ऊँचा किया। आरम्भ में उनका उहेश्य और आदर्श समझकर परिणित रुद्रदत्त शर्मा ने टोका था—“हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे ? पत्रिका का चलना कठिन है !” परन्तु हिंदूवेदी जी इससे निरुत्साह न हुए, प्रत्युत प्रेरणा और प्रोत्साहन-द्वारा उन्होंने कितने ही लेखकों और कवियों का स्वयं ही निर्माण कर दिया। यही नहीं, अन्य भाषा-भाषियों को भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का प्रेमी और आदरकर्ता बना दिया। आज उनके बनाये हुए कई लेखक और कवि देश में आदर्श और रत्न माने जाते हैं और अपनी विद्वत्तापूर्ण तथा कलामय कृतियों से हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर चुके हैं।

की त्रुटियाँ दिखाई गई थीं - विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की और मेरा ध्यान दिलाया गया था। उन दिनों से मैं सामग्रे आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र का, जिनकी यांत्री विद्वत्ता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और मगन चस्तुतः अपूर्व था। पर पंडित गोविंदनारायण जी का गद्य कादंबरी का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यज्ञ कियाँ करता था। द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और आपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों बाद मुझे द्विवेदी जी के हम कथन की सत्यता का अनुभव हुआ। मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे करने का यज्ञ करने लगा। आज के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालूम हुआ, तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया। कार्यसेवा से अवसर अहंकार करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दयादृष्टि रखनेवाला आचार्य हिंदी को युनः कब्र प्राप्त होगा ?”

साथ ही उन्होंने ‘सरस्वती’ का स्टेर्डर्ड भी ऊँचा किया। आरम्भ में उनका उद्देश्य और आदर्श समझकर परिणित रुद्रदत्त शर्मा ने टोका था—“हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे ? पत्रिका का चलना कठिन है।” परन्तु द्विवेदी जी इससे निरुत्साहन हुए, प्रत्युत प्रेरणा और ग्रोत्साहन-द्वारा उन्होंने कितने ही लेखकों और कवियों का स्वयं ही निर्माण कर दिया। यही नहीं, अन्य भाषा-भाषियों को भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का प्रेमी और आदरकर्ता बना दिया। आज उनके बनाये हुए कई लेखक और कवि देश में आदर्श और रक्त माने जाते हैं और अपनी विद्वत्तापूर्ण तथा कलासंग्रह कृतियों से हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर चुके हैं।

---

आगे बढ़ गये कि उन्होंने द्विवेदी जी से नाराज होकर निजी पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी से 'तरंगिणी' नाम की पत्रिका का जन्म ऐसे ही हुआ था। उसके संपादक द्विवेदी जी से नाराज हो गये थे। उनकी शिकायती कविता 'सरस्वती' में छपी है। पर द्विवेदी जी की हड्डता, संपादन-कला-संबंधी परिश्रम, आदि के कारण 'सरस्वती' का प्रचार दिन प्रति बढ़ता गया। उसकी सफलता देखकर अन्य पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया गया।

भागलपुर से 'कमला' प्रकाशित हुई और प्रयाग से 'मर्यादा'। पहली तो शीघ्र ही बंद होगई, पर दूसरी पत्रिका कुछ दिनों तक अच्छी तरह प्रकाशित होती रही। उसको लेखक भी अच्छे मिले; 'सरस्वती' के ही कुछ लेखक उसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों में गंभीरता, रोचकता और मधुरता का मिश्रण रहता था। इधर मेरठ से 'ललिता' नाम की पत्रिका प्रकाशित हुई। अन्य पत्रिकाओं ने तो 'सरस्वती' से सर्वां करने का असफल प्रयत्न ही किया, पर 'ललिता' इन सबसे आगे बढ़ गई—उसने अपने कवर पर ही 'सरस्वती' से टक्कर लेने की वात लिख ढाली। इसी समय गँडवा से 'प्रभा' प्रकाशित हुई। यह पत्रिका भी अच्छी थी, पर पूरे साल भर भी न चल सकी। कुछ साल बाद वह फिर 'प्रताप'—कार्यालय, कानपुर से निकली; पर कुछ दिन बाद फिर बंद होगई। पत्रों में काशी से प्रकाशित होने वाला 'इन्दु' बहुत सजधज से निकलता था।

**प्रायः** इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन थोड़े समय बाद ही बन्द कर दिया गया; शायद ही किसी का जीवन ५-६ वर्ष से अधिक का हुआ हो। इसके दो कारण थे—पहला धनाभाव और दूसरा अध्यवसायी, परिश्रमी और कर्मवीर सम्पादक का न मिलना। यों पहला कारण प्रधान जान

आगे बढ़ गये कि उन्होंने द्विवेदी जी से नाराज होकर निजी पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी से 'तरंगिणी' नाम की पत्रिका का जन्म ऐसे ही हुआ था। उसके संपादक द्विवेदी जी से नाराज हो गये थे। उनकी शिकायती कविता 'सरस्वती' में छपी है। पर द्विवेदी जी की हड्डता, संपादन-कला-संबंधी परिश्रम, आदि के कारण 'सरस्वती' का प्रचार दिन प्रति बढ़ता गया। उसकी सफलता देखकर अन्य पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया गया।

भागलपुर से 'कमला' प्रकाशित हुई और प्रयाग से 'भर्यादा'। पहली तो शीघ्र ही बंद होगई, पर दूसरी पत्रिका कुछ दिनों तक अच्छी तरह प्रकाशित होती रही। उसको लेखक भी अच्छे मिले; 'सरस्वती' के ही कुछ लेखक उसमें प्राच: लिखा करते थे। उनके लेखों में गंभीरता, रोचकता और मधुरता का मिश्रण रहता था। इधर मेरठ से 'ललिता' नाम की पत्रिका प्रकाशित हुई। अन्य पत्रिकाओं ने तो 'सरस्वती' से स्पर्धा करने का असफल प्रयत्न ही किया, पर 'ललिता' इन सबसे आगे बढ़ गई—उसने अपने कवर पर ही 'सरस्वती' से टक्कर लेने की वात लिख डाली। इसी समय बैंडवा से 'प्रभा' प्रकाशित हुई। यह पत्रिका भी अच्छी थी, पर पूरे साल भर भी न चल सकी। कुछ साल बाद वह फिर 'प्रताप'—कार्यालय, कानपुर से निकली; पर कुछ दिन बाद फिर बंद होगई। पत्रों में काशी से प्रकाशित होने वाला 'इन्दु' बहुत सजावज से निकलता था।

**प्रायः** इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन थोड़े समय बाद ही बन्द कर दिया गया; शायद ही किसी का जीवन ५-६ वर्ष से अधिक का हुआ हो। इसके दो कारण थे—पहला धनाभाव और दूसरा अध्यवसायी, परिश्रमी और कर्मवीर सम्पादक का न मिलना। यों पहला कारण प्रधान जान

और १९०५ की हैं, जब वे अपने लेख कलित नाम से छाया करते थे। शायद इस काल में केवल परिणामत गिरिजादत्त जी चालपेयी के ही लेख उन्होंने प्रकाशित किये हैं—अन्य प्रायः सभी स्वयं लिखे हैं। १९०५ और १९०६ में उन्होंने पढ़ा बहुत हैं और नवीन विषयों से 'सरस्वती' के प्रत्येक अङ्क को सजाया है। इन दोनों वर्षों में लेखों की थोड़ी-बहुत सहायता उन्हें अवश्य मिलती रही। १९०७ और १९०८ में उन्हें फिर बहुत परिश्रम करना पड़ा। 'सद्गुर्प्रचारक', 'ललिता' आदि पत्रों से इस समय 'सरस्वती' की होड़ हो रही थी; समालोचना व भाषा-सम्बन्धी भगदे रोज ही शुरू होते थे और उनका उत्तर देना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि वे बीमार हो गये। १९१० में उन्हें पूरे वर्ष अर की जुही भी लेनी पड़ी।

द्विवेदी जी के इन वर्षों में प्रकाशित सम्पादकीय तथा अन्य लेखों को पढ़कर हमें उनकी योग्यता और बुद्धिमत्ता का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही 'सरस्वती' में प्रकाशित अन्य सजनों के लेखों में भी यत्र-तत्र उन्होंने के व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह था कि प्रकाशनार्थ आये हुए सभी लेखों को वे घड़े शौर से आदोयान्त पढ़ा करते थे। भाषा, विराम-चिह्न, क्रम, अस्पष्टता तथा शैली विषयक दोषों को सुधारने में पहले वे दिन और रात एक कर देते थे और तब लेख को प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' का सम्पादन जुही से करते थे। वे एक दिन भी इरिडियन प्रेस के आफिस में घैठकर काम करने नहीं गये। पर उनके समय में 'सरस्वती' की छपाई में घड़ी सावधानी रहती थी। द्विवेदी जी की सम्पादन-सम्बन्धी कुशलता की प्रशংসা करते हुए 'इरिडियन प्रेस' के वर्तमान स्वामी श्रीयुत हरिकेशब घोप लिखते हैं—

और १९०५ की है, जब वे अपने लेख कल्पित नाम से छपाया करते थे। शायद इस काल में केवल परिडत गिरिजादत्त जी चाजपेयी के ही लेख उन्होंने प्रकाशित किये हैं—अन्य प्राचीन सभी स्वयं लिखे हैं। १९०५ और १९०६ में उन्होंने पढ़ा बहुत हैं और नवीन विषयों से 'सरस्वती' के प्रत्येक अङ्क को सजाया है। इन दोनों वर्षों में लेखों की धोड़ी-बहुत सहायता उन्हें अवश्य मिलती रही। १९०७ और १९०८ में उन्हें फिर बहुत परिश्रम करना पड़ा। 'सद्गमप्रचारक', 'ललिता' आदि पत्रों से इस समय 'सरस्वती' की होड़ हो रही थी; समालोचना व भाषा-सम्बन्धी भगड़े रोज़ ही शुरू होते थे और उनका उत्तर देना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि वे 'बीमार हो गये। १९१० में उन्हें पूरे वर्ष भर की छुट्टी भी लेनी पड़ी।

द्विवेदी जी के इन वर्षों में प्रकाशित सम्पादकीय तथा अन्य लेखों को पढ़कर हमें उनकी योग्यता और द्विदिसत्ता का ज्ञान होता ही है, साथ ही 'सरस्वती' में प्रकाशित अन्य सज्जनों के लेखों में भी यत्र-तत्र उन्हीं के व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह था कि प्रकाशनार्थ आये हुए सभी लेखों को वे बड़े गौर से आद्योपान्त पढ़ा करते थे। भाषा, विराम-चिह्न, क्रम, अस्पष्टता तथा शैली विषयक दोषों को सुधारने में पहले वे दिन और रात एक कर देते थे और तब लेख को 'प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' का सम्पादन जुही से करते थे।' वे एक दिन भी इंडियन प्रेस के आफिस में घैठकर काम करने नहीं गये। पर उनके समय में 'सरस्वती' की छार्ड में बड़ी सावधानी रहती थी। द्विवेदी जी की सम्पादन-सम्बन्धी कुशलता की प्रशंसा करते हुए 'इंडियन प्रेस' के वर्तमान स्वामी श्रीयुत हरिकेशब घोष लिखते हैं—

द्विवेदी जी के इस निश्चय ने उनके कई प्रगाढ़ मित्रों को रुष्ट कर दिया; पर द्विवेदी जी अपने निश्चय पर डटे रहे। स्वर्गीय परिणित पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' नामक लेख-माला छपने के लिए भेजी। द्विवेदी जी को उनकी शैली प्रसन्न ही आई और उन्होंने उसमें परिवर्तन करना चाहा। शर्मा जी, इसके विपरीत, यह चाहते थे कि वह लेखमाला ज्यों-की-त्यों अविकल रूप में प्रकाशित हो—वाक्य या शब्द तो क्या उसमें कहीं एक अक्षर भी न बदला जाय। अतः द्विवेदी जी ने उसको छापना अस्वीकार कर दिया और वह लेखमाला लगभग एक वर्ष तक 'सरस्वती' कार्यालय में पड़ी रही। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन से, बीमार हो जाने पर छुट्टी ले लीं तब परिणित देवीप्रसाद शुक्ल बी०ए० के सम्पादन-काल में वह प्रकाशित हो सकी।

सम्पादन-सम्बन्धी इस दृढ़ता के कारण द्विवेदी जी से बहुत से व्यक्ति रुष्ट हो गये और उन्हें अभिमानी और अशिष्ट समझने लगे। पर द्विवेदी जी उनसे नाराज़ न होकर उन्हें समझा-बुझा देना अच्छा समझते थे। प्रायः उनसे वे विनीत स्वर में कहते—‘भाई साहब, आखिर आपको सर्वज्ञता का तो दावा है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ और आप बता दें तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।’ उनकी यह विनम्रता कुछ लोगों को मुग्ध भी कर लेती थीं। जिस व्यक्ति को योग्यता, ज्ञान, पद् आदि का अभिमान हो जाता है वह दूसरों के ज्ञान से विरोध पर उनका दुश्मन हो जाता है। पर साहित्यिक-क्लेवर में ऐसे लोग प्रायः उन्नति नहीं करते। यहाँ तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो जीवन भर अपने को विद्यार्थी समझें और स्वाध्याय में लगे रह कर गुरुजनों के अनुभव-जन्य ज्ञान से

द्विवेदी जी के इस निश्चय ने उनके कई प्रगाढ़ मित्रों को रुष्ट कर दिया; पर द्विवेदी जी अपने निश्चय पर छढ़े रहे। स्वर्गीय परिणित पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' नामक लेख-माला छपने के लिए भेजी। द्विवेदी जी को उनकी शैली पसन्द न आई और उन्होंने उसमें परिवर्तन करना चाहा। शर्मा जी, इसके विपरीत, यह चाहते थे कि वह लेखमाला ज्यों-की-त्यों अविकल रूप में प्रकाशित हो—वाक्य या शब्द तो क्या उसमें कहीं एक अक्षर भी न बदला जाय। अतः द्विवेदी जी ने उसको छापना अस्वीकार कर दिया और वह लेखमाला लगभग एक वर्ष तक 'सरस्वती' कार्यालय में पड़ी रही। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन से, बीमार हो जाने पर छुट्टी ले लीं तब परिणित देवीप्रसाद शुक्ल बी०ए० के सम्पादन-काल में वह प्रकाशित हो सकी।

सम्पादन-सम्बन्धी इस दृढ़ता के कारण द्विवेदी जी से बहुत से व्यक्ति रुष्ट हो गये और उन्हें अभिमानी और अशिष्ट समझने लगे। पर द्विवेदी जी उनसे नाराज़ न होकर उन्हें समझा-बुझा देना अच्छा समझते थे। प्रायः उनसे वे विनीत स्वर में कहते—'भाई साहब, आखिर आपको सर्वज्ञता का तो दावा है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ और आप बता दें तो मैं कुतन्तापूर्वक स्वीकार करूँगा।' उनकी यह विनम्रता कुछ लोगों को मुग्ध भी कर लेती थीं। जिस व्यक्ति को योग्यता, ज्ञान, पद आदि का अभिमान हो जाता है वह दूसरों के ज्ञान से विरोध पर उनका दुश्मन हो जाता है। पर साहित्यिक-क्षेत्र में ऐसे लोग प्रायः उन्नति नहीं करते। यहाँ तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो जीवन भर अपने को विद्यार्थी समझें और स्वाध्याय में लगे रह कर गुरुजनों के अनुभव-जन्य ज्ञान से

नहीं, न जाने क्या समझ कर लिख डाला है। वह करेक्षण देख कर प्रसन्नता हुई, कुँकलाहट-सी देख कर सज्जदारी भी आ गई; और फिर लेख के ऊपर यह राय पढ़ी कि 'यह लेख समझ में नहीं आता है, इसलिए लौटा दिया जाता है।' यह राय क्या थी, उस अनुवाद को हज़रत देना था। वह बड़ों की विनय है।" —हंस, अभिनन्दनांक (अप्रैल १९३३, पृ० ३-४)

बहुत से लेखक इसी प्रकार संशोधनों से लाभ उठाया करते थे। एक स्थान पर स्वर्गीय श्री ग्रेमचन्द्र जी ने भी लिखा है— "नव मैंने नया-नया हिन्दी लिखना सीखा था, 'सरस्वती' में अपनी कहानियाँ भेजा करता था, तब द्विवेदी जी के किए हुए संशोधनों से लाभ उठाकर भविष्य में शुद्ध—हिन्दी लिखने का प्रयत्न करने के लिए, प्रत्येक कहानी की दो प्रति करके मैं एक अपने पास रख लेता था और कहानी के प्रकाशित होने पर वही सावधानी के साथ, मूल से मिलाकर संशोधनों को समझने का प्रयत्न करता था कि असुक शब्द के स्थान पर असुक शब्द क्यों रखा गया है और इस परिवर्तन से कहानी में कोई विशेषता आई है या नहीं।" 'पंच-परमेश्वर' शीर्षक कहानी उन्होंने 'पंचों में ईश्वर' के नाम से प्रकाशित होने के लिए भेजी थी। इस शीर्षक के बदले जाने से जो चमत्कार और नवीनता आगई उसे ग्रेमचन्द्र जी ने भी स्वीकार किया है।

यह तो हुई गद्य, लेख, कहानी, आदि में किये हुए संशोधनों की बात, पद्य का भी उनको इसी प्रकार सम्पादन करना पड़ता था। लेकिन पद्य का सुधार करना इतना सरल नहीं था, जितना गद्य का। पद्य में छन्द, भाषा, भाव, प्रवाह, रस आदि सभी का ध्यान रखते हुए एक शब्द भी बदल देना

नहीं, न जाने क्या समझ कर लिख डाला है। वह करेक्षण देख कर प्रसन्नता हुई, झुँझलाहट-सी देख कर मज़दारी भी आ गई; और फिर लेख के ऊपर यह राय पढ़ी कि 'यह लेख समझ में नहीं आता है, इसलिए लौटा दिया जाता है।' यह राय क्या थी, उस अनुवाद को इज़्जत देना था। वह बड़ों की विनय है।" —हंस, अभिनन्दनांक (अप्रैल १९३३, पृ० ३-४)

बहुत से लेखक इसी प्रकार संशोधनों से लाभ उठाया करते थे। एक स्थान पर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द्रजी ने भी लिखा है— "बदै मैंने नया-नया हिन्दी लिखना सीखा था, 'सरस्वती' में अपनी कहानियाँ भेजा करता था, तब द्विदी जी के किए हुए संशोधनों से लाभ उठाकर भविध में शुद्ध—हिन्दी लिखने का प्रयत्न करने के किए, प्रत्येक कहानी की दो प्रति क्रक्के में एक अपने पास रख लेता था और कहानी के प्रकाशित होने पर वही सावधानी के साथ, मूल से मिलाकर संशोधनों को समझने का प्रयत्न करता था कि असुक शब्द के स्थान पर असुक शब्द क्यों रखा गया है और इस परिवर्तन से कहानी में कोई विशेषता आई है या नहीं।" 'पंच-परमेश्वर' शीर्षक कहानी उन्होंने 'पंचों में ईश्वर' के नाम से प्रकाशित होने के लिए भेजी थी। इस शीर्षक के बदले जाने से जो चमत्कार और नवीनता आगई उसे प्रेमचन्द्रजी ने भी स्वीकार किया है।

यह तो हुई गद्य, लेख, कहानी, आदि में किये हुए संशोधनों की बात, पद्य का भी उनको इसी प्रकार सम्पादन करना पड़ता था। लेकिन पद्य का सुधार करना इतना सरल नहीं था, जितना गद्य का। पद्य में छन्द, भाषा, भाव, प्रवाह इस आदि सभी का ध्यान रखते हुए एक शब्द भी बदल देना

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई  
 चार बूँदों से मिले मन की लैंगोटी धुल गई।  
 इसमें नीचे की पंक्ति उन्होंने बदलकर छापी—  
 विशद् बूँदों से मिले मन मौज मिश्रो धुल गई । ”

वात यह है कि भावावेश में साधारण कवि प्रायः अपने को भूल कर विषय के बाहर की बातें लिख जाता है। कविता में से इन्हें हटाकर सारे पद्य को सुसंबंधित कर देना साधारण कार्य नहीं—कविता में परिवर्तन कर देने पर भी रस, प्रचाह, भाषा आदि में किसी प्रकार का दोष न आने देने के लिए बड़ी कुशलता और प्रचुर अभ्यास की अपेक्षा है। द्विवेदी जी ने इस कार्य को भी सकलता के साथ सम्पन्न किया। एक बार एक प्रसिद्ध कवि की रचना से उन्होंने साड़े तीन छन्द (१४ पंक्तियाँ) निकालकर अपनी ओर से आधा छन्द (दो चरंण) जोड़ दिया और विशेषता यह कि भाषा में किसी प्रकार का अंतर न आया, विचारों का तार न ढूटा और छन्द में कहीं व्यतिक्रम न पड़ा। यह थी सम्पादन-कला और कुशलता। इसके लिए द्विवेदी जी को बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ता था; चौबीसों घण्टे वे व्यस्त रहते थे। सम्पादन-कार्य के आगे उन्होंने कभी दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, बरन इसके लिए अपने स्वास्थ्य का—अँगरेजी कवि मिल्टन की भाँति अपनी नेत्र-ज्योति का—बलिदान कर दिया; परन्तु कभी दूसरों के आगे एक बार भी इसकी शिकायत नहीं की। १८ वर्ष के सम्पादकीय युग में केवल एक बार ही ऐसा अवसर आया था जब द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ के दो अङ्क संयुक्त निकाले थे। साथ ही प्रत्येक अङ्क का प्रत्येक लेख सुसम्पादित रहता था और इनका सम्पादन भी इतनी कुशलता से किया जाता था।

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई  
 चार बूँदों से मिले मन की लँगोटी छुल गई ।  
 इसमें नीचे की पंक्ति उन्होंने बदलकर छापी—  
 विशद् बूँदों से मिले मन मौज मिश्रो हुल गई ।”

बात यह है कि भावावेश में साधारण कवि प्रायः अपने को भूल कर विषय के बाहर की बातें लिख जाता है। कविता में से इन्हें हटाकर सारे पद्म को सुसंवंधित कर देना साधारण कार्य नहीं—कविता में परिवर्तन कर देने पर भी रस, प्रवाह, भाषा आदि में किसी प्रकार का दोष न आने देने के लिए बड़ी कुशलता और प्रचुर अभ्यास की अपेक्षा है। द्विवेदी जी ने इस कार्य को भी सफलता के साथ सम्पन्न किया। एक बार एक प्रसिद्ध कवि की रचना से उन्होंने साड़े तीन छन्द (१४ पंक्तियाँ) निकालकर अपनी ओर से आया छन्द (दो चरण) जोड़ दिया और विशेषता यह कि भाषा में किसी प्रकार का अंतर न आया, विचारों का तार न ढूटा और छन्द में कहीं व्यतिक्रम न पड़ा। यह थी सम्पादन-कला और कुशलता। इसके लिए द्विवेदी जी को बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ता था; चौबीसों घण्टे वे व्यस्त रहते थे। सम्पादन-कार्य के आगे उन्होंने कभी दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, वरन् इसके लिए अपने स्वास्थ्य का—अँगरेजी कवि मिल्टन की भाँति अपनी नेत्र-ज्योति का—त्रिलिंग कर दिया; परन्तु कभी दूसरों के आगे एक बार भी इसकी शिकायत नहीं की। १८ वर्ष के सम्पादकीय युग में केवल एक बार ही ऐसा अवसर आया था जब द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ के दो अङ्क संयुक्त निकाले थे। साथ ही प्रत्येक अङ्क का प्रत्येक लेख सुसम्पादित रहता था और इनका सम्पादन भी इतनी कुशलता से किया जाता था।

तथा भावों का संशोधन कैसी सावधानी से करते थे और उनकी संशोधन-शैली किस प्रकार की थी। मूलपृष्ठ में लेख है और शंका-स्थलों पर नम्बर लगाकर हाशिये पर द्विवेदी जी के संशोधन तथा रिमार्क दिये हैं। यह लेख पंडित देवीदत्त शुक्ल का लिखा हुआ है जिसे उन्होंने द्विवेदी जी की संशोधन-शैली का परिचय देने के लिए, इसी रूप में 'भाषुरी' में छपाया था।

---

तथा भावों का संशोधन कैसी सावधानी से करते थे और उनकी संशोधन-शैली किस प्रकार की थी। मूलपृष्ठ में लेख है और शंका-स्थलों पर नम्बर-लगाकर हाशिये पर द्विवेदी जी के संशोधन तथा रिमार्क दिये हैं। यह लेख पंडित देवीदत्त शुक्ल का लिखा हुआ है जिसे उन्होंने द्विवेदी जी की संशोधन-शैली का परिचय देने के लिए, इसी रूप में 'माधुरी' में छपाया था।

---

(३) वे भी वहाँ की भाषा के ज्ञान से

(४) ×

(५) है।

(६) पर

(७) ये (८) उ

(९) हिन्दुओं  
(१०) अर्थात् गृह-  
निर्माण

(११) साहित्य-  
विप्रक (१२) आ-  
दिम - (१३) ×

(१४) अब इतनी  
(१५) उसका

अँगरेज लोगों को इस उदासीनता के कारणों में से मुख्य कारण यह है कि जो अँगरेज भारत में वर्सों नौकरी पर रहते हैं (३) वे यहाँ देशी भाषा के ज्ञान में कोरे ही लौटते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अँगरेजों और भारतवासियों के बीच और किसी बात में उतना भेद नहीं है (४) जितना कि ज्ञान सम्बन्धी साधनों के प्रति उदासीन रहने में (५)। और दुर्भाग्य से यह भेद दिन (६) दिन बढ़ता ही जा रहा है। भारत में आगाएं भाषाएँ (७) हैं। (८) इनमें उर्दू एक महत्वपूर्ण भाषा है। इसका कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कृत से भी वैसा ही है जैसा कि अरबी और कारसी से। अब वह केवल मुसलमानों ही की जांचान- नहीं रही, लाखों हिन्दुओं का भी उसपर अधिकार है। (९) हिन्दू और मुसलमानों का समिश्रण स्थापत्य (१०) विद्या में भी विद्यमान है। इसका उदाहरण आगरे का ताजमहल है। (११) साहित्यिक समिश्रण कविता में तो प्रकट ही है। यद्यपि (१२) मुसलमान आकर्मणकारियों (१३) तथा विजेताओं के सैनिकों के लश्कर से उर्दू उत्पन्न हुई है तथापि उसकी (१४) पेसी भारी उन्नति हो गई है कि (१५) वह

अँगरेज लोगों को इस उदासीनता के कारणों में से मुख्य कारण यह है कि जो अँगरेज भारत में वर्सौं नौकरी पर रहते हैं (३) वे यहाँ देशी भाषा के ज्ञान में कोरे ही लौटते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अँगरेजों और भारतवासियों के बीच और किसी चात में उतना भेद नहीं है (४) जितना कि ज्ञान सम्बन्धी साधनों के प्रति उदासीन रहने में (५)। और दुर्भाग्य से यह भेद दिन (६) दिन बढ़ता ही जा रहा है। भारत में अगणित भाषाएँ (७) हैं। (८) इनमें उर्दू एक महत्वपूर्ण भाषा है। इसका कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कृत से भी बैसा ही है जैसा कि अरबी और फ़ारसी से। अब वह केवल मुसलमानों ही की जांचन-नहीं रही, लाखों हिन्दुओं का भी उसपर अधिकार है। (९) हिन्दू और मुसलमानों का सम्मिश्रण स्थापत्य (१०) विद्या में भी विद्यमान है। इसका उदाहरण आगरे का ताजमहल है। (११) साहित्यिक सम्मिश्रण कविता में तो प्रकट ही है। यद्यपि (१२) मुसलमान आक्रमणकारियों (१३) तथा विजेताओं के सैनिकों के लश्कर से उर्दू उत्पन्न हुई है तथापि उसकी (१४) ऐसी भारी उन्नति हो गई है कि (१५) वह

(३) वे भी वहाँ की भाषा के ज्ञान से

(४) ×

(५) है।

(६) पर

(७) ये (८) उ

(९) हिन्दुओं  
(१०) अर्थात् गृह-निर्माण

(११) साहित्य-विपयक (१२) आ-द्विम् - (१३) ×

(१४) अब इतनी  
(१५) उसका

(२३) उस समय के भी कुछ कवियों की रचनाओं में हृदयहारी भाव पाये जाते हैं।

(२४) किसी ने भी

(२५) भरे हुए

(२६) वे मूल्य वान् (२७) उनका

(२८) गालिव उस समय हुए थे

(२९) वस्तुयें

(३०) और दुःख के व्यंजक

(३१) अच्छी

(३२) उन्होंने अपने मन के दार्शनिक विचारों के स्रोत में

(२३) कुछ कवियों ने चमत्कारी भाव प्रकट किये थे, किंतु मौलिकता की ओर (२४) ध्यान नहीं दिया। उस समय के कवियों में महाकवि गालिव का बड़ा नाम है। उनके पदों में केवल शब्द-वैचित्र्य तथा रूपकालिकार ही नहीं है, किंतु वे सुंदर तथा गमीर भावों से (२५) ओत-प्रोत हैं। वे पद्य हमारी पसंद के हों चाहे न हों पर (२६) उनमें दृढ़ता अवश्य है। हम पर (२७) उस दृढ़ता का प्रभाव पड़ता है।

(२८) उनकी कविता का मुख्य स्वर सर्वा शुभवाद है। उनका समय वह था जब पुरानी (२९) वस्तुएँ समय के प्रवाह से दूटफूटकर ढुकड़े-ढुकड़े हो रही थीं और अंतिम मुशल-सम्राट् वहादुरशाह बंदी बनाकर रंगन भेजे जा चुके थे। उसी समय गालिव ने मार्मिक पीड़ा (३०) तथा दुःख-सूचक अपने खोस विचार जगत् के सामने कविता के रूप में व्यक्त किये। मुशल-सम्राट् के पतन के साथ उन्होंने उन सब वातों को अंतर्धान होते देखा जिनको वे (३१) श्रेष्ठ तथा स्वच्छ समझते थे। (३२) वे किस तरह बार-बार अपने आपको अपने मस्तिष्क के दार्शनिक विचारों में भग्क

(२३) उस समय के भी कुछ कवियों की रचनाओं में हृदयहारी भाव पाये जाते हैं।

(२४) किसी ने भी

(२५) भरे हुए

(२६) वे मूल्य वान (२७) उनका

(२८) गालिव उस समय हुए थे

(२९) वस्तुयें

(३०) और दुःख के व्यंजक

(३१) अच्छी

(३२) उन्होंने अपने मन को दार्शनिक विचारों के स्रोत में

(२३) कुछ कवियों ने चमत्कारी भाव प्रकट किये थे, किंतु मौलिकता की ओर (२४) ध्यान नहीं दिया। उस समय के कवियों में महाकवि गालिव का बड़ा नाम है। उनके पद्यों में केवल शब्द-वैचित्र्य तथा रूपकालंकार ही नहीं है, किंतु वे सुंदर तथा गंभीर भावों से (२५) ओत-प्रोत हैं। वे पद्य हमारी पसंद के हों चाहे न हों पर (२६) उनमें दृढ़ता अवश्य है। हम पर (२७) उस दृढ़ता का प्रभाव पड़ता है।

(२८) उनकी कविता का मुख्य स्वर सर्वा शुभवाद है। उनका समय वह था जब पुरानी (२९) वस्तुएँ समय के प्रवाह से ढूटफूटकर टुकड़े-टुकड़े हो रही थीं और अंतिम मुगल-सम्राट् वहादुरशाह बंदी बनाकर रंगन भेजे जा चुके थे। उसी समय गालिव ने मार्मिक पीड़ा (३०) तथा दुःख-सूचक अपने खास विचार जगत् के सामने कविता के रूप में व्यक्त किये। मुगल-सम्राट् के पतन के साथ उन्होंने उन सब वातों को अंतर्धान होते देखा जिनको वे (३१) श्रेष्ठ तथा स्वच्छ समझते थे। (३२) वे किस तरह वारंवार अपने आपको अपने मस्तिष्क के दार्शनिक विचारों में भर्क

(४६) हाय ! (५०) ×

(५१), सब नहीं ।

(५२) × (५३)

उनमें से

(५४) नीचे (५५) ×

(५६) हैं × ये

(५७), इंगलैंड में,  
(५८) । (५९).  
× (६०) क्या मत-  
लव ? (६१) जगत  
एक ही है । उसमें  
उत्तरी, दक्षिणी,  
भाग करना ज्वर-  
दस्ती है । पारचात्य  
देश क्यों न लिखें ।

“(४६) सब नहीं, हम लोगों के पास (५०)  
हाय, केवल कुछ ही गुले लाल तथा  
गुलाब के रूप में आये हैं (५१)”

“(५२) हे भगवन्, (५३) कुछ लोगों  
के मुख कैसे सुन्दर रहे होंगे जो अब  
(५४) धूल में (५५) नीचे ढ़वे छिपे पढ़े हैं ।”

परन्तु गालिव भूतकाल के कवि हैं ।  
लोग उनकी कविताएँ इसी दृष्टि से नहीं  
पढ़ते कि वे प्राचीन कवि की (५६) रची हुई  
हैं । उनकी रचनाएँ भारत में उसी  
दृष्टि से पढ़ी जाती हैं जैसे कि यहाँ (५७)  
(इंगलैंड में) मिल्टन की (५८) हाँ यह  
(५९) यात ठीक है कि नई सन्तान को  
उनकी कविताओं में अर्वाचीन मानव-  
समाज की (६०) मिश्रित अभिलापाओं  
के भावों का दिग्दर्शन नहीं होता ।

जब से भारत का पारचात्य (६१)  
जगत् के साथ सम्बन्ध हुआ है तब से  
उद्दूसाहित्य में नये-नये प्रभाव आप ही  
आप पड़ने लगे हैं । वह पुरानी कविता  
जिसका आदर्श फारसी कविता थी आव्या-  
तिक तथा प्रेम के भावों से परिपूर्ण रहती थी  
अब क्रमशः निर्वल पड़ने लगी, यहाँ तक  
कि विगत शताब्दी के ८०वें वर्ष में उसकी  
इतिश्री हो गई । महाकवि हाली ने खुलम-  
खुला उसके विरुद्ध कह कर उसका प्रभाव  
नष्ट कर डाला ।

(४६) हाय ! (५०) ×

(५१), सब नहीं ।

(५२) × (५३)

उनमें से

(५४) नीचे (५५) ×

(५६) हैं × ये

(५७), इंगलैंड में,

(५८) । (५९).

× (६०) क्या मत-

लव ? (६१) जगत

एक ही है। उसमें

उत्तरी, दक्षिणी,

भाग करना ज्वर-

दस्ती है। पाश्चात्य

देश क्यों न लिखें।

“(४६) सब नहीं, हम लोगों के पास (५०)  
हाय, केवल कुछ ही गुले लाल तथा  
गुलाब के रूप में आये हैं (५१)

“(५२) हे भगवन्, (५३) कुछ लोगों  
के मुख कैसे सुन्दर रहे होंगे जो अब  
(५४) घूल में (५५) नीचे ढ़वे छिपे पढ़े हैं।”

परन्तु गालिब भूतकाल के कवि हैं।  
लोग उनकी कविताएँ इसी दृष्टि से नहीं  
पढ़ते कि वे प्राचीन कवि की (५६) रची हुई  
हैं। उनकी रचनाएँ क्षेत्र भारत में उसी  
दृष्टि से पढ़ी जाती हैं जैसे कि यहाँ (५७)  
(इंगलैंड में) मिल्टन की (५८) हाँ यह  
(५९) वात ठीक है कि नई सन्तान को  
उनकी कविताओं में अर्वाचीन मानव-  
समाज की (६०) मिश्रित अभिलापाओं  
के भावों का दिग्दर्शन नहीं होता।

जब से भारत का पाश्चात्य (६१)  
जगत् के साथ सम्बन्ध हुआ है तब से  
उद्भूत्साहित्य में नये-नये प्रभाव आप ही  
आप पड़ने लगे हैं। वह पुरानी कविता  
जिसका आदर्श फारसी कविता थी आध्या-  
त्मिक तथा प्रेम के भावों से परिपूर्ण रहती थी  
अब क्रमशः निर्वल पड़ने लगी, यहाँ तक  
कि विगत शताब्दी के द०वें वर्ष में उसकी  
इतिश्री हो गई। महाकवि हाली ने खुल्म-  
खुल्ला उसके विरुद्ध कह कर उसका प्रभाव  
नष्ट कर डाला।

(७) और

ऐसी कहणात्मक, ऐसी उत्तेजक (७) ऐसी सच्ची कवित्वपूर्ण है कि उसने मुख्यतया उन समाज के अहंदिग्रों तक को अपनी इनक्रा से चौंका दिया।

मैंने सिद्धांतहीन, धार्मिक तथा भ्रावृत्तव के भावों से शन्य और विपश्यामन मनुष्य देखे हैं। ये ऐसे लोग हैं जो अपने भोग-विलास के कारण दुःख शब्द का उच्चारण तक सुनना ग़वारा नहीं कर सकते और यदि किसी गायक ने इन लोगों के सामने कोई दुःखव्यंजक पद गा दिया तो उसकी खेर न ममकिए। अपमान-सूचक शब्दों से वह तिरस्कृत कर दिया जायगा। परन्तु ये ही लोग मुसहस के पढ़े जाने पर एतराज नहीं करते और जब तक उसका पढ़ना जारी रहता है तब तक ये लोग वैठे रोया करते हैं।

मैंने अपने देश के अन्य धर्मावलम्बियों को इसके सुनने से अश्रुपात करते देखा है। और कैसा अश्रुपात जो हृदयगंत दुःख के कारण स्वतः प्रवृत्त हुए थे (८) और सच्चे थे।”

प्राच्य में कविता अब तक भी हम लोगों के लिए एक जीवनी शक्ति है और हम उन भावों को व्यक्त करने में जरा भी लज्जित नहीं होते जो वह उत्तेजित करती है।

(८) अतएव

(७) और

ऐसी कल्पाजनक, ऐसी उत्तेजक (७) ऐसी सच्ची कवित्वपूर्ण है कि उसने मुसलमान समाज के अहंदियों तक को अपनी निद्रा से चैंका दिया।

मैंने सिद्धांतहीन, धार्मिक तथा भ्रातृत्व के भावों से शून्य और विषयामन्त्र मनुष्य देखे हैं। ये ऐसे लोग हैं जो अपने भोग-विलास के कारण दुःख शब्द का उचारण तक सुनना गवारा नहीं कर सकते और यदि किसी गायक ने इन लोगों के सामने कोई दुःखव्यंजक पद गा दिया तो उसकी ख़ीर न समझिए। अपमान-मूचक शब्दों से वह तिरस्कृत कर दिया जायगा। परन्तु ये ही लोग मुसहस के पढ़े जाने पर एतराज नहीं करते और जब तक उसका पढ़ना जारी रहता है तब तक ये लोग वैठे रोया करते हैं।

मैंने अपने देश के अन्य धर्मावलम्बियों को इसके सुनने से अश्रुपात करते देखा है। और कैसा अश्रुपात जो हृदयगंत दुःख के कारण स्वतः प्रवृत्त हुए थे (८) और सच्चे थे।”

प्राच्य में कविता अब तक भी हम लोगों के लिए एक जीवनी शक्ति है और हम उन भावों को व्यक्त करने में जरा भी लज्जित नहीं होते जो वह उत्तेजित करती है।

(८) अतएव

फिर लिखिए और इन अंदों में वह नई आत्मा जनक रही  
मुझे भेजिए। है जिसने भारत को जगा दिया है।

म० प्र० द्वि० ( १७ ) इक्कवाल के 'तरान' उर्दू भाषी  
१६। ३। २० भारत का जातीय भीन के रूप में स्वो-  
कार किये गये हैं।

---

फिर लिखिए और  
मुझे भेजिए।

म० प्र० द्वि०  
१६। ३।२०

इन ग्रंथों में वह नई आत्मा चलती रहती है जिसने भारत को जगा दिया है।

( १७ ) इङ्ग्रिज के 'तरान' उद्दृष्टि भाषी भारत का जातीय जीवन के सुर में स्वीकार किये गये हैं।

---

नाम से 'अनस्थिरता' शब्द की हँसी उड़ाते हुए एक लेख-माला ही निकाल दी। यह 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला का कुछ अंश भद्रे विनोद का नमूना था। भाषा इसकी बड़ी ही उप्र थी। बात यह थी कि द्विवेदी जी ने अपने लेख में गुप्त जी के वैंगला-अनुवाद का एक अवतरण देकर उसमें अनुवाद के दोष दिखलाये थे। वस, गुप्त जी आपे से बाहर होकर द्विवेदी जी पर वाम्बाण वरसाने लगे। 'हम पञ्चन के द्वाला माँ' जैसे वैसवाड़ी के वाक्यों का प्रयोग करके गुप्त जी ने द्विवेदी जी का उस लेख-माला में गहरा उपहास किया। इस लेखमाला में सहदृशता, सौजन्य और शिष्टता तक का ध्यान नहीं रखा गया। इस पर द्विवेदी जी बड़े चुनून हुए। 'कल्लू अल्हइन' के कल्पित नाम से उन्होंने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आलहा छन्द में एक भड़ौवा लिखकर गुप्त जी के भद्रे विनोद को तादृश हीं उत्तर दिया। गुप्त जी ने इस पर अपनी राग देते हुए लिखा—

"भाई बाह ! कल्लू अल्हइत का आदहा खूब हुआ। क्यों न हो,  
अपनी स्वाभाविक बोली में है न !"

द्विवेदी जी का यह आलहा जनवरी १९०६ की 'सरस्वती' में ( भाग १, संख्या १, पृष्ठ ६८ ) प्रकाशित हुआ। दूसरे ही महीने में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा, जो फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में ( भाग १, संख्या २, पृष्ठ ६० ) प्रकाशित हुआ। इस लेख में द्विवेदी जी ने गुप्त जी की युक्तियों का बड़े सुन्दर ढंग से व्यङ्ग्य की पुट देते हुए खंडन किया। परिणामस्वरूप हिन्दी के तत्कालीन सभी धुरंधर विद्वान् द्विवेदी जी के पक्ष में हो गये। हिन्दी-संसार में हलचल संचर्ग गई। द्विवेदी जी के पक्षपातियों ने गुप्त जी को मुँहतोड़

नाम से 'अनस्थिरता' शब्द की हँसी उड़ाते हुए एक लेख-माला ही निकाल दी। यह 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला का कुछ अंश भद्रे विनोद का नमूना था। भाषा इसकी बड़ी ही उप्र थी। बात यह थी कि द्विवेदी जी ने अपने लेख में गुप्त जी के बँगला-अनुवाद का एक अवतरण देकर उसमें अनुवाद के दोष दिखलाये थे। बस, गुप्त जी आपे से बाहर होकर द्विवेदी जी पर वाग्वाण वरसाने लगे। 'हम पञ्चन के ट्वाला माँ' जैसे वैसधाड़ी के वाक्यों का प्रयोग करके गुप्त जी ने द्विवेदी जी का उस लेख-माला में गहरा उपहास किया। इस लेखमाला में सहदृश्यता, सौजन्य और शिष्टता तक का ध्यान नहीं रखा गया। इस पर द्विवेदी जी बड़े कुछ द्वय हुए। 'कल्लू आलहृन' के कल्पित नाम से उन्होंने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आलहा छन्द में एक भडौवा लिखकर गुप्त जी के भद्रे विनोद को ताद्रश ही उत्तर दिया। गुप्त जी ने इस पर अपनी राय देते हुए लिखा—

"भाई बाह ! कल्लू आलहृत का आलहा खूब हुआ। क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न !"

द्विवेदी जी का यह आलहा जनवरी १९०६ की 'सरस्वती' में ( भाग १, संख्या १, पृष्ठ ६८ ) प्रकाशित हुआ। दूसरे ही महीने में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा, जो फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में ( भाग १, संख्या २, पृष्ठ ६० ) प्रकाशित हुआ। इस लेख में द्विवेदी जी ने गुप्त जी की युक्तियों का बड़े सुन्दर ढंग से व्यङ्ग्य की पुट देते हुए खंडन किया। परिणाम-स्वरूप हिन्दी के तत्कालीन सभी धुरंधर विद्वान् द्विवेदी जी के पक्ष में हो गये। हिन्दी-संसार में हलचल संचर्ग हुई। द्विवेदी जी के पक्षपातियों ने गुप्त जी को मुँहतोड़

पक्ष में थे। चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' के सम्पादक थे, उन्होंने कई सम्पादकीय नोट लिख कर अपने विचारों को प्रकट किया। ये महाशय तो विभक्ति-सम्मेलन तक करने के पक्ष में थे। अपने कथन की पुष्टि में इन्होंने स्वर्गीय अम्बिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का छालाक भी प्रकाशित किया, जिसमें विभक्ति सटी हुई लिखी गई थी। यह छालाक १९०६ के अगस्त मास के 'भारतमित्र' में छपा था। ३१ अगस्त के अङ्क में साहित्योपाध्याय वद्रीनाथ शर्मा ने जो मिर्जापुर के निवासी थे, इस कार्ड का खण्डन करते हुए अपना लेख लिखा। विपक्षियों में परिणत रामचन्द्र शुक्ल का लेख बड़ा सुन्दर था। यह लेख 'अभ्युदय' के १९०६ के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। फिर १०, ११, २४ सितम्बर के अङ्कों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए शुक्ल जी ने नोट लिखे।

**प्रायः** ये सभी लेख परिणत गोविन्दनारायण मिश्र के विचारों को काटते थे। मिश्र जी ही इस आन्दोलन के नायक और स्टाऊ-सिद्धान्त के पक्षपाती थे। उन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। इसमें इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध किया और यह सलाह दी कि इन्हें शब्दों से मिलाकर लिखना ही उचित होगा। इनके विचारों का खण्डन करते हुए परिणत रामचन्द्र शुक्ल और वायू भगवानदास हालना ने लेख लिखे थे।

द्विवेदी जी, एक प्रकार से, इस चादविवाद से अलग ही रहे। यह बात वास्तव में वडे आश्चर्य की है कि उन्होंने इस आन्दोलन में भाग क्यों नहीं लिया। शायद उन्होंने इसकी

पक्ष में थे। चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' के सम्पादक थे, उन्होंने कई सम्पादकीय नोट लिख कर अपने विचारों को प्रकट किया। ये महाशय तो विभक्ति-सम्मेलन तक करने के पक्ष में थे। अपने कथन की पुष्टि में इन्होंने स्वर्गीय अस्मिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का ब्लाक भी प्रकाशित किया, जिसमें विभक्ति सटी हुई लिखी गई थी। यह ब्लाक १९०६ के अगस्त मास के 'भारतमित्र' में छपा था। ३१ अगस्त के अङ्क में साहित्योपाध्याय वद्रीनाथ शर्मा ने जो मिर्जापुर के निवासी थे, इस कार्ड का खण्डन करते हुए अपना लेख लिखा। विपक्षियों में परिणत रामचन्द्र शुक्ल का लेख बड़ा सुन्दर था। यह लेख 'अभ्युदय' के १९०६ के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। किर १०, ११, २४ सितम्बर के अङ्कों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए शुक्ल जी ने नोट लिखे।

प्रायः ये सभी लेख परिणत गोविन्दनारायण मिश्र के विचारों को काटते थे। मिश्र जी ही इस आन्दोलन के नायक और सटाऊ-सिद्धान्त के पक्षपाती थे। उन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। इसमें इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध किया और यह सलाह दी कि इन्हें शब्दों से मिलाकर लिखना ही उचित होगा। इनके विचारों का खण्डन करते हुए परिणत रामचन्द्र शुक्ल और वायू भगवानदास हालना ने लेख लिखे थे।

द्विवेदी जी, एक प्रकार से, इस वादविवाद से अलग ही रहे। यह बात वास्तव में बड़े आश्चर्य की है कि उन्होंने इस आन्दोलन में भाग क्यों नहीं लिया। शायद उन्होंने इसकी

“भाषा इसकी परिमार्जित ज़रूर है। प्रनेक स्थलों की रचना व्याकरण-स्थुति भी है। संभव है, तीव्र आदमियों और शिरकत इन्हीं भाषा के अधिकांश दोपों का कारण हो। अच्छे लेखक भी भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस उल्लंक की नहीं। दो-चार उदाहरण लोजिएः—

“( १ ) हिंदी-कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव, और श्रुति-मधुर नहीं है। —भूमिता, पृष्ठ २०। किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव.....नहीं है—यह बिल्लुल दी अशुद्ध है। ‘सौष्ठव’ की जगह ‘सुष्टु’ चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की मापाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं ?

“( २ ) हमने उनका वर्णन थोड़े में ‘स्थाली पुलाक न्याय’ दिखा दिया है। पृष्ठ २१५।

दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। हमने ही उदाहरण देखकर ‘स्थाली पुलाक न्याय’ से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोप है या निर्दोष और यदि नदोप है तो कितनी !”

इसी प्रकार अनेक स्थलों के दोप दिखाने के पश्चात् ‘वाक्य और वाक्यांश-दोप’, ‘शब्द-दोप’, ‘फुटकर दोप’ पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

“‘ब’ और ‘च’ की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। व्रजभाषा, वस्त्रभाषाचार्य’, ‘विरह’, विषय’, ‘विध’ और ‘वियोग’ आदि हजारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें ‘ब’-के बदले ‘ब’ का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के ‘विहारी’, शब्दों में भी ‘ब’ का

“भाषा इसकी परिमार्जित ज़रूरी है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-स्थुत भी है। संभव है, तोह आदमियों जी शिरकत इन्हीं भाषा के अधिकांश दोपों का कारण हो। अच्छे लेखक जी भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस उस्तक की नहीं। दो-चार उदाहरण लोगिएः—

“( १ ) हिंदी-कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव, और श्रुति-मधुर नहीं है। —भूमि ता, पृष्ठ ३०। किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव.....नहीं है—यह विलक्षण ही अशुद्ध है। ‘सौष्ठव’ की जगह ‘सुप्तु’ चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की मापाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं ?

“( २ ) हमने उनका वर्णन थोड़े में ‘स्थाली पुलाक न्याय’ दिखा दिया है। पृष्ठ २९५।

दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देखकर ‘स्थाली पुलाक न्याय’ से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोप है या निर्दोष और यदि निर्दोष है तो कितनी !”

इसी प्रकार अनेक स्थलों के दोप दिखाने के पश्चात् ‘वाक्य और वाक्यांश-दोप’, ‘शब्द-दोप’, ‘कुटकर दोप’ पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

“‘ब’ और ‘व’ की तो वही ही दुर्दशा हुई है। वजभाषा’, ‘वज्ञभाँचार्य’, ‘विरह’, विषय’, ‘विध’ और ‘वियोग’ आदि हजारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें ‘ब’-के बदले ‘ब’ का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के ‘विंहारी’, शब्दों में भी ‘ब’ का

‘द्विवेशी जी—‘शहद’ यहाँ पर ऐसर जा नियोग है; परलए कह  
‘व्याकरण’ क्यों नहीं ?

इसी प्रकार जब पंडित रामनाथ ने रामांचने ‘हिंदी-गिरजापति’  
व्याकरण नाम की पुस्तक में लिखा—

‘तू’ का संप्रदान में ‘तुम्हारे हिंदू’ एवं नांग नम्बर ‘तुम्हारे  
और ‘तुम्हारी’ हो जाती हैं।

तब द्विवेशी जी ने प्राप्त लोड दिवा कि तब एवं नेंटिप  
और ‘तेरा, तेरे, तेरी’ व्यांग न हो ! इसके भिन्ना ‘तो नहीं हैं’  
क्यों ? ‘हो जाता है’ या ‘हो जाते हैं’ क्यों न होना चाहिए ?

सरस्वती (११-३-४३०)

एक अंक में ‘मंसून-ग्रवेशनी’ (सन्मादक, काष्यनीर्थ वी-  
लाल जैन) पर नोट देते हुए लिखा—

“दृष्टि के लेखक व्याकरण-शास्त्री हैं। आशा है, आप व्याकरण का  
महत्व खब जानते होंगे। वे यह भी जानते होंगे कि व्याकरण की  
सत्ता सभी भाषाओं पर है। हिंदी भी एक भाषा है। अतएव वह भी  
आपने व्याकरण के नियमों के अधीन है। पर इस नियमन की चाह  
कुल विभक्ति और धातुओं के रूप प्रयोग सहित यत्त्वाए गए हैं।” इस  
चाक्र में पहले तो ‘विभक्ति’ लिखना, फिर उसे एक वचन में रखना  
और तो को न खटके तो न खटके, व्याकरण-शास्त्रियों को तो अवश्य  
ही खटकना चाहिए।”

सरस्वती (११-४-२७७)

ऐसे संशोधनों से लेखकों का बड़ा उपकार होता था।  
बहुत से लोग उनकी इन वातों को सहर्ष ग्रहण कर लेते

‘द्विवेदी जी—‘शदग’ यहाँ पर भेजर पा दियेगा है; इसके कहे ‘इष्टय’ क्यों नहीं ?

इसी प्रकार जब यंडित दागन ती शर्मी के ‘हिंदी-मिहार’ व्याकरण नाम की पुस्तक में लिखा—

‘तू’ का संश्लेषण में ‘तुम्हारे लिए’ या तो यह लुम्हारा ‘तुम्हारे’ और ‘तुम्हारी’ हो जाती है।

तब द्विवेदी जी ने प्राप्त लोट दिया गि. तो यह तेरे लिए और ‘तेरा, तेरे, तेरी’ क्यों न हो ? इसके बिचा ‘तो जानी है’ क्यों ? ‘हो जाता है’ या ‘हो जाते हैं’ क्यों न होना चाहिए ?

सरस्वती (११-३-४३०)

एक अंक में ‘मंस्कृन-प्रवर्णनां’ ( सन्त्यादक, काउण्डनीर्थी-लाल जैन ) पर नोट देते हुए लिखा—

“इसके लेखक व्याकरण-शास्त्री हैं। आशा है, आप व्याकरण की महात्मा खूब जानते होंगे। वे यह भी जानते होंगे कि व्याकरण की सत्ता सभी भाषाओं पर है। हिंदी भी एक भाषा है। अतएव वह भी अपने व्याकरण के नियमों के अधीन है। पर इस नियमन की धारा आप शायद भूल गये हों। आपका एक वाक्य है—‘दूसरे भाग में शेष कुल विभक्ति और धातुओं के रूप प्रयोग सहित यत्त्वाएँ गए हैं।’ इस वाक्य में पहले तो ‘विभक्ति’ लिखना, फिर उसे एक वचन में रखना औरों को न खटके तो न खटके, व्याकरण-शारियों को तो अवश्य ही खटकना चाहिए।”

सरस्वती (११-४-२७७)

ऐसे संशोधनों से लेखकों का बड़ा उपकार होता था। बहुत से लोग उनकी इन वातों को सहर्ष ग्रहण कर लेते

उन्हें समय रामायण बनाने वी लालना हुई और तब उन्होंने शेष अन्य भी बनाया। पृष्ठ २०।

इस प्रकार के लम्बे-लम्बे वाक्यों से द्विवेदी जी को बहुत चिढ़ थी। इस वाक्य पर उन्होंने अपना नोट यों दिया था—

‘इसमें पिछले दो ‘और’ जाने से बेतरह शिथितता आ गई। उन्हें निकाल कर उनकी जगह पुकारेक पाई (फुलस्टाप) रख देने से यह दोष दूर हो जाता।’

इसी प्रकार ‘श्री समय सार-टीका’ की आलोचना भी भाषा-सुधार का एक सुन्दर नमूना है। यह आलोचना अगस्त १९१८ की ‘सरस्वती’ (पृष्ठ ११०) में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक की भूमिका के कुछ वाक्य यों थे—

“इस भाषा करने में हमने अति साहस किया है। यह काम न्याय और ध्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समाज विद्वत्ता-रहित व्यक्ति का न था तो भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है। उस पर विद्वज्ञ, हास्य न करके कृपादाए द्वारा उसे अवलोकन करेंगे और जहाँ कोई भूल मालूम पड़े उसे अवश्य सूचित करेंगे। क्योंकि ‘मुझ जैये अहं ज्ञानी द्वारा भी भूल हो जाना सम्भव है।’”

द्विवेदी जी ने इस पर जो नोट लिखा वह इस प्रकार है—

“यह अत्यंत शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है। यही बात और तरह वडी, अच्छी हिंदी में लिखी जा सकती थी। जैर शैली का विचार जाने दीजिए। ‘इस’ और ‘भाषा’ शब्दों के बीच एक ‘की’ दरकार है। दूसरे वाक्य में ‘पर’ शब्द ब्यर्थ हैं। ‘तो’ का इसला ही शलत है। वह तो होना ही चाहिए। अंतिम वाक्य का

उन्हें समय रामायण बनाने की जालना हुई और तब उन्होंने शेष ग्रन्थ भी बनाया। पृष्ठ ४०।

इस प्रकार के लम्बे-लम्बे वाक्यों से द्विवेदी जी को बहुत चिढ़ थी। इस वाक्य पर उन्होंने अपना नोट यों दिया था—

‘हसमें पिछ्के दो ‘और’ जाने से बेतरह शिथितता आ गई। उन्हें निकाल कर उनकी जगह एक एक पाई (फुलस्टाप) रख देने से यह दोप दूर हो जाता।’

इसी प्रकार ‘श्री समय सार-टीका’ की आलोचना भी भाषा-सुधार का एक सुन्दर नमूना है। यह आलोचना अगस्त १९१८ की ‘सरस्वती’ (पृष्ठ ११०) में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक की भूमिका के कुछ वाक्य यों थे—

“हस भाषा करने में हसने अति साहस किया है। यह काम न्योय और व्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समाज विद्वत्त-रहित व्यक्ति का न था तो भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है। उस पर विद्वज्जन हास्य न करके कृपाद्वृष्टि द्वारा हसे अवलोकन करेंगे और जहाँ बोई भूल मालूम पढ़ें उसे अवश्य सुचित करेंगे। क्योंकि मुझ जैसे अल्प ज्ञानी द्वारा भी भूले हो जाना सम्भव है।”

‘द्विवेदी’ जी ने इस पर जो नोट लिखा वह इसे प्रकार है—

“यह अत्यंत शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है। यही बात और तरह वही अच्छी हिंदी में लिखी जा सकती थी। और शैली का विचार जाने दीजिए। ‘हस’ और ‘भाषा’ शब्दों के बीच एक ‘की’ दरकार है। दूसरे वाक्य में ‘पर’ शब्द व्यर्थ है। ‘तो’ का हमला ही शलत है। वह ‘तो’ होना ही चाहिए। अंतिम वाक्य का

शुद्धता और भाषा की सफाई के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी बढ़ा। यह देखकर आचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नता में विजयोन्माद नहीं था, अभिमान नहीं था, केवल आत्मतुष्टि का भाव था। इसका अनुभव वही कर सकता है जो दिन-रात एक करके सच्ची लगन के साथ परिश्रम करे और अन्त में अभिलिपित सफलता प्राप्त कर सके।

---

शुद्धता और भाषा की सफाई के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी बढ़ा। यह देखकर आचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नता में विजयोन्माद नहीं था, अभिमान नहीं था, केवल आत्मतुष्टि का भाव था। इसका अनुभव वही कर सकता है जो दिन-रात एक करके सच्ची लगन के साथ परिश्रम करे और अन्त में अभिलिप्ति सफलता प्राप्त कर सके।

---

समय साहित्य-सेवियों के दल बने थे। वे एक-दूसरे के दोष दिखाने में व्यंग्य और कटाक्ष-पूर्ण भाषा का सहारा लेते थे। फलतः विभिन्न दलों में विरोध-भावना और भी प्रवल होती जाती थी। साहित्य को इससे बड़ी चिंति पहुँच रही थी। जिन पढ़े-लिखे विद्वानों के हृदयों में हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंगों को देखकर कसक उठती थी और जो उसकी उन्नति के लिए सबेत होकर प्रयत्नशील थे, वे इस पक्षपातपूर्ण दोष-प्रदर्शन-कार्य को, जिसे वे समालोचना के नाम से ही पुकारते थे, देखकर मन मसोस कर रह जाते थे। ऐसी आलोचना करते समय लेखक इस बात का ध्यान अवश्य रखता था कि कहीं हमारे दलबाले इससे असंतुष्ट तो नहीं हो जायेंगे। यों उस समय, समालोचना आयः पक्षपातपूर्ण ही होती थी और समालोचना का लक्ष्य कृति न होकर व्यक्ति-विशेष रहता था। इस कथन की पुष्टि बाबू श्यासमुन्दरदास के एक पत्र से होती है जो उन्होंने सन् १८६४ में द्विवेदी जी को लिखा था। द्विवेदीजी ने एक यथार्थ समालोचना सभा के द्वारा प्रकाशित कराने के लिए भेजी थी। उसी के उत्तर में मंत्री की हेसियत से बाबूजी ने पत्र लिखा था।

काशी, २६-४-१८६४

“पूज्यवर,

हमारी सभा और विशेष कर हमारे समाज को अवश्या विचित्र है। ये ही यड़े भाग्य हैं कि सभा अब तक चली जाती है। दोष और द्वेष सब स्थानों में नाश का मूल कारण हुआ। उसकी हमारे यहाँ न्यूनता नहीं है - लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है—अप्रसन्न करने में विजय नहीं लगता—समालोचनाओं के यथार्थ रूप में करने से हम किसी को भी सन्तुष्ट न कर सकेंगे (यह वाक्य गलत

समय साहित्य-सेवियों के दल बने थे। वे एक-दूसरे के दोष दिखाने में व्यंग्य और कटाक्ष-पूर्ण भाषा का सहारा लेते थे। फलतः विभिन्न दलों में विरोध-भावना और भी प्रवल होती जाती थी। साहित्य को इससे बड़ी कृति पहुँच रही थी। जिन पढ़े-लिखे विद्वानों के हाथों में हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंगों को देखकर कसक उठती थी और जो उसकी उन्नति के लिए सचेत होकर प्रयत्नशील थे, वे इस पक्षपातपूर्ण दोष-प्रदर्शन-कार्य को, जिसे वे समालोचना के नाम से ही पुकारते थे, देखकर मन मसोस कर रह जाते थे। ऐसी आलोचना करते समय लेखक इस वात का ध्यान अवश्य रखता था कि कहीं हमारे दलवाले इससे असंतुष्ट तो नहीं हो जायेंगे। यों उस समय, समालोचना प्रायः पक्षपातपूर्ण ही होती थी और समालोचना का लक्ष्य कृति न होकर व्यक्ति-विशेष रहता था। इस कथन की पुष्टि बाबू श्यासनुदरदास के एक पत्र से होती है जो उन्होंने सन् १९६६ में छिवेदी जी को लिखा था। छिवेदीजी ने एक यथार्थ समालोचना सभा के द्वारा प्रकाशित कराने के लिए भेजी थी। उसी के उत्तर में मंत्री की हेसियत से बाबूजी ने पत्र लिखा था।

काशी, २६-४-१९६६

“पूज्यवर,

हमारी सभा और विशेष कर हमारे समाज को अवश्या विचित्र है। ये ही वडे भाग्य हैं कि सभा अब तक चली जाती है। दोष और दोइ सब स्थानों में नाश का मूल कारण हुआ। उसकी हमारे यहाँ न्यूनता नहीं है - लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है - अप्रसन्न करने में विकल्प नहीं लगता - समालोचनाओं के यथार्थ रूप में करने से हम किसी को भी सन्तुष्ट न कर सकते (यह वाक्य गलत

गुण, रूपक आदि की छानवीन—की ओर, पहले से ही, ध्यान दिया जा रहा था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय में हम एक और वैंगला-साहित्य से और दूसरी और अँगरेज़ी-साहित्य से परिचित हुए। इसके दो सुपरिणाम हुए। पहला वैंगला, अँगरेज़ी, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में किया जाने लगा। यह शौक इतना बढ़ता गया कि कालान्तर में अच्छे और बुरे सभी ग्रंथों का अनुवाद होने लगा। पर यह हमारी चीज़ नहीं थी और न हम इस पर अभिमान ही कर सकते थे। दूसरा सुपरिणाम यह हुआ कि साहित्य-सेवी मौलिक ग्रंथ लिखने की ओर प्रयत्नशील हुए।

विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम अपनी भाषा तथा अपने साहित्य की वास्तविक दशा से परिचित हो सके और यह भी जान सके कि हमारे लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा। यों दर्ढ़ारी समालोचना-पद्धति में उन्योगितावाद की पुट भी दिखाई देने लगी। वीसवीं शताब्दी के आरंभ में होनेवाली साहित्य और समालोचना की पद्धति का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

### प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श

इसके कुछ वर्ष पहले ही हिन्दी-साहित्य-केन्द्र में द्विवेदीजी का प्रादुर्भाव हो चुका था। आरम्भ से उनकी प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचनात्मक थी। सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के पूर्व ही उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में कतिपय पुस्तकों की आलोचना की थी। पाठक जी के कई काव्यों की भी वे मार्मिक और विस्तृत समालोचना कर चुके थे। उनके इन कार्यों की आलोचना करने के पहले यहाँ हम उनकी प्रवृत्ति

गुण, रूपक आदि की छानवीन—की ओर, पहले से ही, ध्यान दिया जा रहा था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय में हम एक और वैंगला-साहित्य से और दूसरी ओर अँगरेजी-साहित्य से परिचित हुए। इसके दो सुपरिणाम हुए। पहला वैंगला, अँगरेजी, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में किया जाने लगा। यह शौक इतना बढ़ता गया कि कालान्तर में अच्छे और बुरे सभी ग्रंथों का अनुवाद होने लगा। पर यह हमारी चीज़ नहीं थी और न हम इस पर अभिमान ही कर सकते थे। दूसरा सुपरिणाम यह हुआ कि साहित्य-सेवी मौलिक ग्रंथ लिखने की ओर प्रयत्नशील हुए।

विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम अपनी भाषा तथा अपने साहित्य की वास्तविक दशा से परिचित हो सके और यह भी जान सके कि हमारे लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा। यों दर्बारी समालोचना-पद्धति में उपयोगितावाद की पुट भी दिखाई देने लगी। वीसवीं शताब्दी के आरंभ में होनेवाली साहित्य और समालोचना की पद्धति का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

### प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श

इसके कुछ वर्ष पहले ही हिन्दी-साहित्य-क्लेत्र में द्विवेदीजी का प्रादुर्भाव हो चुका था। आरम्भ से उनकी प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचनात्मक थी। सम्पादन-कार्य प्रहण करने के पूर्व ही उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में कतिपय पुस्तकों की आलोचना की थी। पाठक जी के कई काव्यों की भी वे मार्मिक और विस्तृत समालोचना कर चुके थे। उनके इन कार्यों की आलोचना करने के पहले यहाँ हम उनकी प्रवृत्ति

लोगों की कृपा-दृष्टि संस्कृत की ओर भी गई और उन्होंने, देखा-देखी संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ कर दिया।

द्विवेदी जी इस अंतिम बात को सहन नहीं कर सके। उस समय संस्कृत का वे अध्ययन करते थे और जानते थे कि इस भाषा का साहित्य पाश्चात्य देशों के विद्वानों को लुभा चुका है; वे उसे बड़े आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अतः उन्होंने सोचा कि यदि अनुवाद और टीका करने की योग्यता न रखनेवाले व्यक्तियों ने इस ओर क़दम बढ़ाया और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद या उनकी टीका करके उनके वास्तविक महत्त्व और सौन्दर्य को नष्ट कर दिया, तो उन ग्रन्थकारों के ही नहीं, संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के प्रति भी हमारे हृदयों में निरादर-भाव पैदा हो जायगा और इसका प्रभाव हमारी भावी संतति पर बहुत बुरा पड़ेगा। उनका यह विचार ही संस्कृत के अनुवादों और टीकाओं की कटु-आलोचना का कारण हुआ। द्विवेदी जी का स्वयं ऐसे अनुवादकों या टीकाकारों से कोई द्वेष नहीं था जैसा कि उनके एक पत्र से स्पष्ट होता है। लाला-सीताराम ने संस्कृत के कुछ ग्रन्थों की टीका की। द्विवेदी जी ने उनकी तीव्र आलोचना की। इस पर लालाजी की ओर से किसी ने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखा, जिसके उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा—

“I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose. I have certainly made no attacks on him; you are no doubt, mistaken in this respect,

भावार्थ यह है कि द्विवेदी जी ने किसी द्वेष-भावना से

लोगों की कृपा-हृषि संस्कृत की ओर भी गई और उन्होंने, देखा-देखी संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ कर दिया।

द्विवेदी जी इस अंतिम बात को सहन नहीं कर सके। उस समय संस्कृत का वे अध्ययन करते थे और जानते थे कि इस भाषा का साहित्य पाश्चात्य देशों के विद्वानों को लुभा चुका है; वे उसे बड़े आदर और सम्मान की हृषि से देखते थे। अतः उन्होंने सोचा कि यदि अनुवाद और टीका करने की योग्यता न रखनेवाले व्यक्तियों ने इस ओर क़दम बढ़ाया और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद या उनकी टीका करके उनके वास्तविक महत्त्व और सौन्दर्य को नष्ट कर दिया, तो उन ग्रन्थकारों के ही नहीं, संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के प्रति भी हमारे हृदयों में निरादर-भाव पैदा हो जायगा और इसका प्रभाव हमारी भावी संतति पर बहुत दुरा पड़ेगा। उनका यह विचार ही संस्कृत के अनुवादों और टीकाओं की कटु-आलोचना का कारण हुआ। द्विवेदी जी का स्वयं ऐसे अनुवादकों या टीकाकारों से कोई द्वेष नहीं था जैसा कि उनके एक पत्र से स्पष्ट होता है। लाला-सीताराम ने संस्कृत के कुछ ग्रन्थों की टीका की। द्विवेदी जी ने उनकी तीव्र आलोचना की। इस पर लालाजी की ओर से किसी ने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखा, जिसके उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा—

“I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose. I have certainly made no attacks on him; you are no doubt, mistaken in this respect,

भावार्थ यह है कि द्विवेदी जी ने किसी द्वेष-भावना से

द्विवेदी जी का यह आदर्श अन्त तक बना रहा। समयानुनार वे और भी आगे बढ़ गये। जब लोगों ने बहुत धाँधली मचाई तब उन्होंने 'समालोचना का सत्कार'-शोर्पक एक लेख दिसम्बर १९१७ की 'सरस्ती' में प्रकाशित किया। यह लेख कुछ धाँधली मचानेवालों की खबर लेने के लिए लिखा गया था। बाबू कालिदास जो कपूर ने उसके प्रतिबाद में 'समालोचना'-शीर्पक एक लेख लिखा और 'सरस्ती' में ही प्रकाशित होने के लिए भेजा। इस लेख की स्वीकृति लिखते हुए द्विवेदी जी ने ३१-१-१९१८ को जो पत्र लिखा उसका कुछ अंश यों है—

'मेरा लेख कुछ खास आदमियों को लष्य करके लिखा गया है। उन की धूर्ता का हाल आपको मालूम होता तो शायद आप अपना लेख लिखने नहीं। स्वैर. मतभेत बुरा नहीं।'

इतना ही नहीं, जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास समालोचनार्थी नहीं भी आती थीं और उनमें कोई दोष होता था तो वे स्वयं खरोदकर उन्हें पढ़ते थे और जनता के सामने उनके दोष स्पष्ट भाषा में रख देते थे। इन पुस्तकों की मूल्यना द्विवेदी जी को अपने मित्रों से मिल जाया करती थी।

स्वैर, उक्त उद्देश्य और विचार पर बढ़ रहना बड़े साहस का कार्य था; कम से कम तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में रहकर तीव्र और सत्य आलोचना करना आसान न था। पर द्विवेदी जी अपने विचार पर डटे रहे। यहाँ हम एक लेख ऐसा उद्धृत करते हैं जिससे उनके 'समालोचना-सन्दर्भी' आदर्श पर प्रकाश पड़ेगा। लेख कुछ बड़ा अवश्य है, पर उससे हम उस समय के साहित्यसेवियों के विचारों से भी परिचित हो सकेंगे और द्विवेदी जी ने उनको समझाकर राह पर लाने की जो चेष्टा की उससे भी। लेख यों है—

द्विवेदी जी का यह आदर्श अन्त तक बना रहा। समयानुमार वे और भी आगे बढ़ गये। जब लोगों ने बहुत धाँधली मचाई तब उन्होंने 'समालोचना का सत्कार'-शोर्पक एक लेख दिसम्बर १९१७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। यह लेख कुछ धाँधली मचानेवालों की खबर लेने के लिए लिखा गया था। बाबू कालिदास जी कपूर ने उसके प्रतिवाद में 'समालोचना'-शोर्पक एक लेख लिखा और 'सरस्वती' में ही प्रकाशित होने के लिए भेजा। इस लेख की स्त्रीकृति लिखते हुए द्विवेदी जी ने ३१-१-१९१८ को जो पत्र लिखा उसका कुछ अंश यों है—

'मेरा लेख कुछ खास आदमियों को लघ्य करके लिखा गया है। उनकी धूर्त्ता का हाल आपको मालूम होता तो शायद आप अपना लेख लिखते ही नहीं। स्वैर. मतभेत चुरा नहीं।'

इतना ही नहीं, जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास समालोचनार्थी नहीं भी आती थीं और उनमें कोई दोष होता था तो वे स्वयं खरोदकर उन्हें पढ़ते थे और जनता के सामने उनके दोष स्पष्ट भाषा में रख देते थे। इन पुस्तकों की सूचना द्विवेदी जी को अपने मित्रों से मिल जाया करती थी।

खैर, उक्त उद्देश्य और विचार पर हड़ रहना बड़े साहस का कार्य था; कम से कम तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में रहकर तोब्र और सत्य आलोचना करना आसान न था। पर द्विवेदी जी अपने विचार पर डटे रहे। यहाँ हम एक लेख ऐसा उद्धृत करते हैं जिससे उनके 'समालोचना-सन्वन्धी आदर्श' पर प्रकाश पड़ेगा। लेख कुछ बड़ा अवश्य है, पर उससे हम उस समय के साहित्यसेवियों के विचारों से भी परिचित हो सकेंगे और द्विवेदी जी ने उनको समझाकर राह पर लाने की जो चेष्टा की उससे भी। लेख यों है—

को भी, हिन्दी को छोड़कर, अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों की अदालत से सज्जा मिलती है।”

— सरस्वती अप्रैल १९११)

द्विवेदीजी ने ‘कालिदास की निरंकुशता’—शीर्षक अपनी प्रसिद्ध लेखमाला में, पुराने समालोचकों के कथन के आधार पर, कालिदास की कृतियों में कुछ दोष दिखाये थे। उनके समकालीन संस्कृत के विद्वानों ने इसका बड़ा विरोध किया। उत्तर में द्विवेदीजी ने ‘प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्धावना’—शीर्षक एक निवन्ध लिखा। यह अप्रैल, मई और जून (१९११) की ‘सरस्वती’ में प्रकाशित हुआ था। इसी लेख की भूमिका के तौर पर उक्त वाक्य लिखे गये हैं। रेखांकित स्थलों की व्याख्या करने का तो यहाँ स्थान नहीं है; हाँ उन पर गौर करने से परिस्थिति और उत्तर हमारी समझ में आ सकता है। अस्तु।

द्विवेदीजी ने अपने इसी विचार को एक जगह स्पष्ट रावड़ों में इस प्रकार लिखा है—

“मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्षा-दोष शब्द भाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्धावना करना उससे भी बुरा काम है।”

— सरस्वती

यह तो हुई समालोचना-संघर्षी आदर्श की बात। अब लेखक के आदर्श पर, जैसा उन्होंने समझा था या वे चाहते थे, गौर कीजिए।

पुस्तक के तीन मुख्य अंग होते हैं—विषय, भाषा और शैली। द्विवेदीजी ने अपने उद्देश्य और आदर्श के अनुसार इन तीनों

को भी, हिन्दी को छोड़कर, अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों की अदालत से सज्जा मिलती है।”

— सरस्वती अप्रैल १९११)

द्विवेदीजी ने ‘कालिदास की निरंकुशता’—शीर्षक अपनी प्रसिद्ध लेखमाला में, पुराने समालोचकों के कथन के आधार पर, कालिदास की कृतियों में कुछ दोष दिखाये थे। उनके समकालीन संस्कृत के चिद्वानों ने इसका बड़ा विरोध किया। उत्तर में द्विवेदीजी ने ‘प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्घावना’—शीर्षक एक निवन्ध लिखा। यह अप्रैल, मई और जून (१९११) की ‘सरस्वती’ में प्रकाशित हुआ था। इसी लेख की भूमिका के तौर पर उक्त वाक्य लिखे गये हैं। रेखांकित स्थलों की व्याख्या करने का तो यहाँ स्थान नहीं है; हाँ उन पर गौर करने से परिस्थिति और उत्तर हमारी समझ में आ सकता है। अस्तु।

द्विवेदीजी ने अपने इसी विचार को एक जगह स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

“मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या-देप अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्घावना करना उससे भी बुरा काम है।”

— सरस्वती

यह तो हुई समालोचना-संघर्षी आदर्श की बात। अब लेखक के आदर्श पर, जैसा उन्होंने समझा था या वे चाहते थे, गौर कीजिए।

पुस्तक के तीन मुख्य अंग होते हैं—विषय, भाषा और शैली। द्विवेदीजी ने अपने उद्देश्य और आदर्श के अनुसार इन तीनों

प्रकाश पड़ता है। भाषा वे सरल चाहते थे, शुद्ध भी। आरंभ में प्रायः दोनों ही बातें हिंदी में नहीं थीं। उन्हें इससे दुःख होता था। फलतः परिणाम भाषा लिखनेवालों पर कटाक्ष करने में वे कोई कोरकसर न करते थे और व्याकरण आदि के दोष दिखाने में भी बड़ी तत्परता से काम लेते थे। स्थूल स्वप्न से इन्हीं तीन बातों की परिचयात्मक आलोचना वे किया करते थे।

### समालोचना

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभ से ही द्विवेदीजी की अकृति आलोचनात्मक रही है। स्वभावतः अपने साहित्यिक जीवन-काल में उन्होंने सैकड़ों पुस्तकों की अपने ढंग से आलोचना की। इन आलोचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

#### ( १ ) संस्कृत के ग्रंथों की आलोचना

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों की टीकायें शतान्द्रियों पहले से होती आ रही थीं। राजा लद्मणसिंह के समय से विद्वानों का ध्यान प्रसिद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने की ओर भी गया। फलतः कुछ विद्वानों ने कालिदास के कुछ ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया। द्विवेदी जी को इन अनुवादों में मूल-ग्रंथों के भाव और चित्र न मिले। अनुवाद करने की प्रथा कुछ समय पहले ही हिंदी में आई थी। अतः अनुवादों में दोप रह जाना, किसी सीमा तक, स्वाभाविक ही था। द्विवेदी जी ने इन्हीं दोषों को छूँढ़ना शुरू किया। संवत् १६५४ (सन् १८९७) में उन्होंने ‘श्रीवेंकटेश्वर-समाचार पत्र’ तथा कालाकाँकर के ‘हिंदोस्थान’ में लाला सीताराम वी० ए०

प्रकाश पड़ता है। भाषा वे सरल चाहते थे, शुद्ध भी। आरम्भ में प्रायः दोनों ही बातें हिंदी में नहीं थीं। उन्हें इससे दुःख होता था। फलतः परिणाम भाषा लिखनेवालों पर कटाक्ष करने में वे कोई कोरकसर न करते थे और व्याकरण आदि के दोष दिखाने में भी बड़ी तत्परता से काम लेते थे। स्थूल रूप से इन्हीं तीन बातों की परिचयात्मक आलोचना वे किया करते थे।

### समालोचना

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभ से ही द्विवेदीजी की अकृति आलोचनात्मक रही है। स्वभावतः अपने साहित्यिक जीवनकाल में उन्होंने सैकड़ों पुस्तकों की अपने ढंग से आलोचना की। इन आलोचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

#### ( १ ) संस्कृत के ग्रंथों की आलोचना

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों की टीकायें शतान्द्रियों पहले से होती आ रही थीं। राजा लद्मणसिंह के समय से विद्वानों का ध्यान प्रसिद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने की ओर भी गया। फलतः कुछ विद्वानों ने कालिदास के कुछ ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया। द्विवेदी जी को इन अनुवादों में मूल-ग्रंथों के भाव और चित्र न मिले। अनुवाद करने की प्रथा कुछ समय पहले ही हिंदी में आई थी। अतः अनुवादों में दोष रह जाना, किसी सीमा तक, स्वाभाविक ही था। द्विवेदी जी ने इन्हीं दोषों को हूँढ़ना शुरू किया। संवत् १६५४ (सन् १८८७) में उन्होंने ‘श्रीवेंकटेश्वर-समाचार पत्र’ तथा कालाकाँकर के ‘हिंदोस्थान’ में लाला सीताराम वी० ए०

‘सुति-ग्रंथ’ तक कहने में संकोच नहीं करते। तत्पश्चात् ‘कालिदास की निरंकुशता’ के दर्शन हुए। इस आलोचनात्मक निवन्ध में कालिदास की कृतियों में कतिपय दोप—उपमा की हीनता-उद्घेगजनक उक्ति, अनौचित्य-दर्शक उक्ति, व्याकरण-संवंधी अनौचित्य, नाम-संवंधी अनौचित्य, इतिहास-संवंधी अनौचित्य, यति-भंग, पुनरुक्ति, अधिकपदत्व, श्रुति-कदुत्त्व, क्रमभंगता आदि के दोप दिखाये हैं। यद्यपि पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ‘मनसाराम’ के नाम से इस निवन्ध के विरोध में ‘निरंकुशता-निर्दर्शन’ शीर्षक एक लम्बा-चौड़ा लेख ‘भारतमित्र’ में लिखा और बाद में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की टिप्पणियों के साथ उसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी कराया, तथापि समस्त हिन्दी-भाषा-मर्मज्ञों पर छिवेदीजी की धाक बैठ गई; सबने उनका लोहा मान लिया।

यद्यपि ‘नैषध-चरित-चर्चा’ के लिए श्री राधाकृष्णदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा से ४ जनवरी सन् १८८८ में लिखा था कि “यह लेख अद्वितीय हुआ है ऐसे (ऐ एक लाइन में है और से दूसरी में) ही लेख भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं,” तथापि छिवेदीजी के इन समालोचनात्मक निवन्धों में जिस आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया गया है, आधुनिक दृष्टि से वह विशेष महत्त्व की न भी हो तो भी हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिए उस समय वहीं बहुत थी। लेखक या कवि के हृदय में बैठ कर पात्र, परिस्थिति और वस्तु आदि की विवेचना करना तो दूर, अपने हृदय के भावों को आलोचना का रूप देकर साहस और निर्भयतापूर्वक व्यक्त कर देने की यह पद्धति भी, हिन्दी के लिए उस समय नई ही थी। समालोचक के लिए आलोच्य विषय का पूर्ण पंडित होना तो आवश्यक है ही, पर स्वभाव व प्रकृति की निर्भयता और विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों को ढुकराकर

‘सुति-अंथ’ तक कहने में संकोचनहीं करते। तत्परचान् ‘कालिदास की निरंकुशता’ के दर्शन हुए। इस आलोचनात्मक निवन्ध में कालिदास की कृतियों में कृतिपय दोप—उपमा की हीनता-उद्घोरजनक उक्ति, अनौचित्य-दर्शक उक्ति, व्याकरण-संवंधी अनौचित्य, नाम-संवंधी अनौचित्य, इतिहास-संवंधी अनौचित्य, यति-भंग, पुनरुक्ति, अधिकपदत्व, श्रुति-कदुत्त्व, क्रमभंगता आदि के दोप दिखाये हैं। यद्यपि पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ‘मनसाराम’ के नाम से इस निवन्ध के विरोध में ‘निरंकुशता-निर्दर्शन’ शीर्षक एक लम्बा-चौड़ा लेख ‘भारतमित्र’ में लिखा और बाद में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की टिप्पणियों के साथ उसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी कराया, तथापि समस्त हिन्दी-भाषा-मर्मज्ञों पर छिवेदीजी की धाक बैठ गई; सबने उनका लोहा मान लिया।

यद्यपि ‘नैषध-चरित-चर्चा’ के लिए श्री राधाकृष्णदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा से ४ जनवरी सन् १९६६ में लिखा था कि “यह लेख अद्वितीय हुआ है ऐसे (ऐ एक लाइन में है और से दूसरी में) ही लेख भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं,” तथापि छिवेदीजी के इन समालोचनात्मक निवन्धों में जिस आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया गया है, आधुनिक हृष्टि से वह विशेष महत्त्व की न भी हो तो भी हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिए उस समय वही बहुत थी। लेखक या कवि के हृदय में बैठ कर पात्र, परिस्थिति और वस्तु आदि की विवेचना करना तो दूर, अपने हृदय के भावों को आलोचना का स्पष्ट देकर साहस और निर्भयतापूर्वक व्यक्त कर देने की यह पद्धति भी, हिन्दी के लिए उस समय नई ही थी। समालोचक के लिए आलोच्य विषय का पूर्ण पंडित होना तो आवश्यक है ही, पर स्वभाव व प्रकृति की निर्भयता और विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों को ढुकराकर

वात जो उस समय वे देखा करते थे, विषय-संबंधी थी। यदि लेखक ने किसी नये विषय पर प्रकाश डाला है और भारतीयता और प्राचीन संस्कृति के भावों का आदर किया है तो द्विवेदीजी, ऐसी पुस्तक की प्रायः प्रशंसा किया करते थे। यदि लेखक अपनी मातृ-भाषा, आर्य-संस्कृति-विषयक विचारों का विरोध करता था तो द्विवेदीजी उसे बुरी तरह फटकारते थे।

दूसरी ओर हिंदी-लेखक भाषा और शैली के विषय में विलक्षण असाधान रहते थे। व्याकरण की टृष्णि से शुद्धता, शैली की टृष्णि से स्थिरता और विचारों की संबद्धता उनकी पुस्तकों में नहीं दिखाई देती थी। द्विवेदीजी ने इस वात को समझा और समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों में तत्संबंधी त्रुटियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालना शुरू किया। जिस लेखक ने इस विषय में धाँधली की उसकी उन्होंने बुरी तरह से ख़बर ली। फलतः नये विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और लेखक भाषा की शुद्धता और विचारों की स्पष्टता पर समुचित ध्यान देने लगे।

यहाँ एक वात स्मरण रखनी चाहिए। द्विवेदीजी हिंदी के पक्षपाती थे और प्राचीन संस्कृत के भक्त भी। परं हिंदी का मस्तक जिन कवियों ने ऊँचा किया है, जिन कवियों को हम गर्व और गौरव की टृष्णि से देखते हैं, उन तुलसीदास, सूरदास आदि के काव्यों की उन्होंने आलोचना नहीं की। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि आरंभ में वे संस्कृत-कवियों का अध्ययन करते रहे और जब 'सरस्वती' के मंपादक हो गये तब उन्हें इतना अवकाश ही नहीं मिला कि हिंदी के कवियों की कृतियों का समुचित रूप से अध्ययन करके विस्तृत आलोचना करते।

वात जो उस समय वे देखा करते थे, विषय-संबंधी थी। यदि लेखक ने किसी नये विषय पर प्रकाश डाला है और भाग्ती-यता और प्राचीन संस्कृति के भावों का आदर किया है तो द्विवेदीजी, ऐसी पुस्तक की प्रायः प्रशंसा किया करते थे। यदि लेखक अपनी मातृ-भाषा, आर्य-संस्कृति-विषयक विचारों का विरोध करता था तो द्विवेदीजी उसे बुरी तरह फटकारते थे।

दूसरी ओर हिंदी-लेखक भाषा और शैली के विषय में विलक्षण असावधान रहते थे। व्याकरण की ट्रिप्टि से शुद्धता, शैली की ट्रिप्टि से स्थिरता और विचारों की संबद्धता उनकी पुस्तकों में नहीं दिखाई देती थी। द्विवेदीजी ने इस वात को समझा और समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों में तत्संबंधी त्रुटियों को हूँड़-हूँड़कर निकालना शुरू किया। जिस लेखक ने इस विषय में धाँधली की उसकी उन्होंने बुरी तरह से ख़वर ली। फलतः नये विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और लेखक भाषा की शुद्धता और विचारों की स्पष्टता पर समुचित ध्यान देने लगे।

यहाँ एक वात स्मरण रखनी चाहिए। द्विवेदीजी हिंदी के पक्षपाती थे और प्राचीन संस्कृत के भक्त भी। परं हिंदी का मस्तक जिन कवियों ने ऊँचा किया है, जिन कवियों को हम गर्व और गौरव की ट्रिप्टि से देखते हैं, उन तुलसीदास, सूरदास आदि के काव्यों की उन्होंने आलोचना नहीं की। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि आरंभ में वे संस्कृत-कवियों का अध्ययन करते रहे और जब 'सरस्वती' के मंपादक हो गये तब उन्हें इतना अवकाश ही नहीं मिला कि हिंदी के कवियों की कृतियों का समुचित रूप से अध्ययन करके विस्तृत आलोचना करते।

किंचित् व्यंग्य की पुट दे देने से उनकी इस शैली में विशेष रोचकता आगई। इस शैली का एक उदाहरण 'नैपथ-चरित-चर्चा और सुदर्शन' शीर्षक लेख है। 'सरस्वती' में शायद यही उनका सबसे पहला लेख था। यह १६०१ के आक्टोवर मास की सरस्वती ( भाग १, संख्या १० ) में प्रकाशित हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने सुदर्शन-संपादक की 'नैपथ-चरितचर्चा' की आलोचना का उत्तर दिया है। भाषा में प्रौढ़ता है, विचारों में दृढ़ता और तार्किक व्यंग्य—

“श्रीहर्ष ने क्या हमारा घोड़ा खोला था जो हम उस पर अप्रसन्न होते ।”

इस शैली का दूसरा रूप 'कालिदास की निरंकुशता' के विरुद्ध लिखी गई लेखमाला के उत्तर में लिखा हुआ 'प्राचीन कवियों के काव्यों की दोषोद्भावना'-शीर्षक लेख है। यह १६११ के अप्रैल, मई और जून मास की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने विभिन्न भाषा-मर्मज्ञों के दिखाये हुए संस्कृत-कवियों के दोषों को उद्धृत करके तर्क-द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि प्राचीन कवियों के दोष दिखाना कोई पाप नहीं है, जैसा उनके कुछ विरोधी समझते थे। इस शैली का तीसरा उदाहरण 'हिंदी-भाषा की उत्पत्ति'-शीर्षक निबंध है।

( २ ) दूसरे प्रकार की शैली व्यंग्यपूर्ण है। यों तो द्विवेदी जी व्यंग्य के बादशाह ही थे; उनके प्रायः प्रत्येक नोट में कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य मिलेगा। यहाँ हम नीचे उनकी इस प्रकार की शैली के कुछ नमूने देते हैं—

‘भाषापद्वयाकरण’ की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—

किंचित् व्यंग्य की पुट दे देने से उनकी इस शैली में विशेष रोचकता आर्गई। इस शैली का एक उदाहरण 'नैपध-चरित-चर्चा और सुदर्शन' शीर्पक लेख है। 'सरस्वती' में शायद यही उनका सबसे पहला लेख था। यह १६०१ के आक्टोवर मास की सरस्वती (भाग १, संख्या १०) में प्रकाशित हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने सुदर्शन-संपादक की 'नैपध-चरितचर्चा' की आलोचना का उत्तर दिया है। भाषा में प्रौढ़ता है, विचारों में दृढ़ता और तार्किक व्यंग्य—

"श्रीहर्ष ने क्या हमारा घोड़ा खोला था जो हम उस पर अप्रसन्न होते।"

इस शैली का दूसरा रूप 'कालिदास की निरंकुशता' के विरुद्ध लिखी गई लेखमाला के उत्तर में लिखा हुआ 'प्राचीन कवियों के काव्यों की दोषोद्भावना'-शीर्पक लेख है। यह १६११ के अग्रैल, मई और जून मास की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने विभिन्न भाषा-मर्मज्ञों के दिखाये हुए संस्कृत-कवियों के दोषों को उद्भृत करके तर्क-द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि प्राचीन कवियों के दोष दिखाना कोई पाप नहीं है, जैसा उनके कुछ विरोधी समझते थे। इस शैली का तीसरा उदाहरण 'हिंदी-भाषा की उत्पत्ति'-शीर्पक निबंध है।

(२) दूसरे प्रकार की शैली व्यंग्यपूर्ण है। यों तो द्विवेदी जी व्यंग्य के वादशाह ही थे; उनके प्रायः प्रत्येक नोट में कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य मिलेगा। यहाँ हम नीचे उनकी इस प्रकार की शैली के कुछ नमूने देते हैं—

'भाषापद्वयाकरण' की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—

“आर्य-समाज की कृपा से सनातनधर्मियों में भी अनेक संरक्षक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेकचर देना और ज़रूरत पढ़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग खूब सीख गये हैं। कानपुर ज़िले के ×× ग्राम में ××× राम शास्त्री नाम के एक महोपदेशक हैं। ‘आर्य-समाजियों के महामोह-निवारणार्थ ईश्वर अर्थ और शास्त्रविचार में रत हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि अपने प्रतिपक्षी समाजियों की तरह आप भी बड़े मधुरभाषी हैं। ‘साइंस’ के भी आप उत्कृष्ट ज्ञाता मालूम होते हैं, क्योंकि आपने लिखा है कि—“चन्द्रमा विलक्षण चूड़ा हो गया है। वह ज्यादा से ज्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।” आपकी राय है—“चैतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाल्य है, अतएव मान्य है”। ऐसे विद्वान् और ऐसे संस्कृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अलपन्न क्या कह सकते हैं! शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के ८० पृष्ठ लिखकर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है, और टाइपिंग पेज लगाकर उसकी अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ बिना कुछ कहे सुने या भूमिका लिखे फिर ८१ वें पृष्ठ से किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज्ञाने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं!”

X            X            X            X

पर व्यक्तिगत कटाक्ष करते समय वे व्यंजना से अधिक सहायता लेते हैं। स्पष्ट है कि इस शैली से प्रहार करने में वितरण बढ़ने की कम संभावना रहती है और चोट भी ठीक निशाने पर बैठती है। इस ढंग के नमूने देखिए—

“खोज की ट्रैवार्पिक रिपोर्ट—जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुत पंडित श्यामविहारी मिश्र, पृम० ८० त

“आर्य-समाज की कृपा से सनातनधर्मियों में भी अनेक संरक्षक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेकचर देना और ज़रूरत पड़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग खूब सीख गये हैं। कानपुर-ज़िले के ×× ग्राम में ××× राम शास्त्री नाम के एक महोपदेशक हैं। ‘आर्य-समाजियों के महामोह-निवारणार्थ ईश्वर अर्ध और शास्त्रविचार में रत हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि अपने प्रतिपक्षी समाजियों की बरह आप भी बड़े मधुरभाषी हैं। ‘साइंस’ के भी आप उत्कृष्ट ज्ञाता मालूम होते हैं, क्योंकि आपने लिखा है कि—“चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा हो गया है। वह ज्यादा से ज्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।” आपकी राय है—“चैतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाट्य है, अतएव मान्य है।” ऐसे विद्वान् और ऐसे संकृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अत्यपन्न कथा कह सकते हैं ! शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के द० पृष्ठ लिखकर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है, और टाइपिल पेज लगाकर उसकी अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ बिना कुछ कहे सुने या भूमिका लिखे फिर द३ वें पृष्ठ से किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज्ञाने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं !”

X                    X                    X                    X

पर व्यक्तिगत कटाक्ष करते समय वे व्यंजना से अधिक सहायता लेते हैं। स्पष्ट है कि इस शैली से प्रहार करने में वितण्डा बढ़ने की कम संभावना रहती है और चोट भी ठीक निशाने पर बैठती है। इस ढंग के नमूने देखिए—

“खोज की त्रैवार्पिक रिपोर्ट—जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुत पंडित श्यामविहारी मिश्र, पृम० प० ३

“सरकार की हितैषणा और दान-दयालुता की एक बात लिखना हम भूलं ही गये। उसने पागलों के मनोरंजन के लिए भी बहुत से प्रबंध कर रखे हैं। पागलों के लिए पचीसी, शतरंज और ताश खेलने के लिए वक्तु मुक्करर है। वे लोग फुटवाल और टेनिस भी खेलते हैं। हर रविवार को ढोलक बजती है, मैंजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है। जनावेआली, रंडियाँ भी कभी-कभी पागलझानों में कुमाछुम करती हुई पधराई जाती हैं। वे नाचते समय अपने हावमाव दिखाकर और गाना सुनाकर हर कदा के पागलों के दिमाग को ठिकाने लाने की चेष्टा करती हैं। पर एक बात की कमी है। पागलझानों में कुछ ग्रामोफोन भी रहने चाहिए। उन पर बजाने के लिए और रेकार्डों के साथ एक एक रिकार्ड पीछे से बजाने के लिए, वह भी रहना चाहिए—

राज करें आँगरेज सदा ही।”

(सरस्वती, आक्योवर १९२७)

किसी विलायती डाक्टर ने आँसुओं की कीटाणु-नाशक शक्ति का पता लगाकर अनेक रोगों पर उसके सफल प्रयोगों का अनुभव प्राप्त किया। विलायती पत्रों ने भी उस आविष्कार का खूब विज्ञापन किया। सामयिक बात थी और अनोखी भी थी, अतः द्विवेदी जो भी उसकी उपयोगिता की प्रशंसा कैसे न करते। पर उनकी प्रशंसा का ढङ्ग बड़ा चुटीला था। तारीफ के सिलसिले में वे लिखते हैं—

“ओपधियों में काम आने के लिए अभी जैसे बहुत से आदमी अपना रक्त बेचते हैं, वैसे ही रुचकड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ घहरों आँसू बेचा करेंगी। इससे उन्हें न कोई कष्ट होगा और न कोई हाति ही होगी। सुवह उठीं और रोकर आँसुओं से एक गिलास भर दिया।

“सरकार की हितैषणा और दान-दयालुता की एक बात लिखना हम भूले ही गये। उसने पागलों के मनोरंजन के लिए भी बहुत से प्रबंध कर रखे हैं। पागलों के लिए पचीसी, शतरंज और ताश खेलने के लिए वक्त मुक्करर है। वे लोग फुटवाल और टेनिस भी खेलते हैं। हर रविवार को ढोलक बजती है, मैंजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है। जनावेआली, रंडियाँ भी कभी-कभी पागलझानों में छमाछम करती हुई पधराई जाती हैं। वे नाचते समय अपने हावमाव दिखाकर और गाना सुनाकर हर कक्षा के पागलों के दिमाग़ को ठिकाने लाने की चेष्टा करती हैं। पर एक बात की कमी है। पागलझानों में कुछ आमोक्लोन भी रहने चाहिए। उन पर वजाने के लिए और रेकाड़ों के साथ एक एक रिकार्ड पीछे से बजाने के लिए, वह भी रहना चाहिए—

राज करें आँगरेज सदा ही।”

(सरश्वती, आक्योवर १९२७)

किसी विलायती डाक्टर ने आँसुओं की कीटागु-नाशक शक्ति का पता लगाकर अनेक रोगों पर उसके सफल प्रयोगों का अनुभव प्राप्त किया। विलायती पत्रों ने भी उस आविष्कार का खूब विज्ञापन किया। सामयिक बात थी और अनोखी भी थी, अतः द्विवेदी जो भी उसको उपयोगिता की प्रशंसा कैसे न करते। पर उनकी प्रशंसा का ढङ्ग बड़ा चुटीला था तारीफ के सिलसिले में वे लिखते हैं—

“ओपघियों में काम आने के लिए अभी जैसे बहुत से आदमी अपना रक्त बेचते हैं, वैसे ही रुक्कड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ घड़ों आँसू बेचा करेंगी। इससे उन्हें न कोई कष्ट होगा और न कोई हाति ही होगी। सुवर्ह उर्मि और रोकर आँसुओं से एक गिलास भर दिया।

The language of the criticism as that of a mimic.

कहकर कटाक्ष किया गया था। द्विवेदी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—

If such is really the case the public have no reason to complain; on the other hand, they should thank me for belending instructions with amusements.

द्विवेदी जी की व्यंग्य-शैली का यही प्रधान उद्देश्य था। समालोचना करते समय किसी लेखक या कवि की हँसी, उसका अपमान करने के लिए वे नहीं करते थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि लेखक सावधान हो जायँ और कोई ऐसा काम न करें जो आचार्यत्व या पाण्डित्य के अनुरूप न हो।

(३) उनकी शैली का तीसरा रूप ओजप्रधान है। लेखकों ने जब-जब भारतीयता की भावना का विरोध किया या अनुचित प्रशंसा अथवा दोपारोपण करने की चेष्टा की, तब-तब द्विवेदी जी ने उनको दुरी तरह फटकारा। इस प्रकार के कथन में ओज का होना स्वाभाविक भी है। यहाँ हम उनकी इस शैली का एक उदाहरण देते हैं। एक महाशय ने 'अँगरेजी राज्य के सुख'-शीर्पक एक पुस्तक लिखी। उसकी भूमिका का कुछ अंश यों है—

Behind and below the ostensible manifestations of loyalty and devotion, there runs an under-current of discontent and unrest brought

The language of the criticism as that of a mimic.

कहकर कटाक्ष किया गया था। द्विवेदी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—

If such is really the case the public have no reason to complain; on the other hand, they should thank me for belending instructions with amusements.

द्विवेदी जी की व्यंग्य-शैली का यही प्रधान उद्देश्य था। समालोचना करते समय किमी लेखक या कवि की हँसी, उसका अपमान करने के लिए वे नहीं करते थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि लेखक सावधान हो जायें और कोई ऐसा काम न करें जो आचार्यत्व या पाण्डित्य के अनुरूप न हो।

(3) उनकी शैली का तीसरा रूप ओजप्रधान है। लेखकों ने जब-जब भारतीयता की भावना का विरोध किया या अनुचित प्रशंसा अथवा दोपारोपण करने की चेष्टा की, तब-तब द्विवेदी जी ने उनको बुरी तरह फटकारा। इस प्रकार के कथन में ओज का होना स्वाभाविक भी है। यहाँ हम उनकी इस शैली का एक उदाहरण देते हैं। एक महाशय ने 'अँगरेजी राज्य के सुख'-शीर्पक एक पुस्तक लिखी। उसकी भूमिका का कुछ अंश यों है—

Behind and below the ostensible manifestations of loyalty and devotion, there runs an under-current of discontent and unrest brought

सभी दूध के धोये हैं; किसी में विरोध-भावना है ही नहीं। वे तो लेखक को यह सुझाना चाहते थे कि इस प्रकार, विना समझे-वूझे, बेतुकी वातें, केवल निज स्वार्थसाधन-हेतु, करना निन्दनीय है। साहित्य-सेवी होने का दावा करनेवाले महानुभावों ने भी जब इसी प्रकार की अनर्गल वातें बताए हैं तब द्विवेदी जी ने इसी शैली का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों में उनका उद्देश्य केवल यह रहता था कि लेखक स्वयं लज्जित हो और स्थिति तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर काम करे।

### दूसरों के विचार

द्विवेदी जी की इस आलोचना-पद्धति की स्वयं विवेचना करने के पहले उसके विषय में दूसरों के विचार जान लेना आवश्यक है। जब द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' दिखाने का प्रयत्न किया तब विद्वानों ने उन पर तरह-तरह के आक्षेप किये और कुछ तो शिरोभावेश में सज्जनता की सीमा भी पार कर गये। 'सद्गुर्म-प्रचारक'-नामक पत्र के सम्पादक ने तो यहाँ तक कह डाला—

"प्रयाग को सरस्वती, पिछ्ले वर्ष, आपने योग्य संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी के रोगार्त हो जाने से फीकी पड़ गई थी। अब दो मास से फिर द्विवेदी जी ने उसका संपादन-कार्य आरंभ कर दिया है। आपका समालोचनारूपी नश्तर दिनप्रतिदिन तेज हो रहा है। पहले आपने उससे पाठ्य पुस्तकों और वाचु सीताराम की कविताओं के अंगों की चीर-फाढ़ की थी। उसके बीचे भारतेन्दु इरिशचंद्र जी तथा वाचु गदाधरसिंह आदि पुराने लेखकों की सबी हुई भाषा के कीड़े आपने निकाले थे। अब, कविकुलगुरु कालिदास की बारी आई है। ऐसा दीखता है कि कविकुलगुरु की भाषा पुरानी

सभी दूध के धोये हैं; किसी में विरोध-भावना है ही नहीं। ये तो लेखक को यह सुझाना चाहते थे कि इस प्रकार, विना समझे-नृभके, वेतुकी वातें, केवल निज स्वार्थसाधन-हेतु, करना निन्दनीय है। साहित्य-सेवी होने का दावा करनेवाले महानुभावों ने भी जब इसी प्रकार की अनर्गल वातें बकी हैं तब द्विवेदी जी ने इसी शेली का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों में उनका उद्देश्य केवल यह रहता था कि लेखक स्वयं लज्जित हो और स्थिति तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर काम करे।

### दूसरों के विचार

द्विवेदी जी की इस आलोचना-पद्धति की स्वयं विवेचना करने के पहले उसके विषय में दूसरों के विचार जान लेना आवश्यक है। जब द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' दिखाने का प्रयत्न किया तब विद्वानों ने उन पर तरह-तरह के आक्षेप किये और कुछ तो विरोधवेश में सज्जनता की सीमा भी पार कर गये। 'सद्गम्भ-प्रचारक'-नामक पत्र के सम्पादक ने तो यहाँ तक कह डाला—

"प्रयाग को सरस्वती, पिछ्ले वर्ष, अपने योग्य संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी के रोगार्त हो जाने से फीकी पड़ गई थी। अब दो मास से फिर द्विवेदी जी ने उसका संपादन-कार्य आरंभ कर दिया है। आपका समालोचनारूपी नश्तर दिनप्रतिदिन तेज़ हो रहा है। पहले आपने उससे पाठ्य पुस्तकों और वाकू सीताराम की कविताओं के अंगों की चीर-फाढ़ की थी। उसके पीछे भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी तथा वाकू गदाधरसिंह आदि पुराने लेखकों की सड़ी हुई भाषा के कीढ़े आपने निकाले थे। अब, कविकुलगुरु कालिदास की बारी आई है। ऐसा दीखता है कि कविकुलगुरु की भाषा पुरानी

भी समालोचना करेंगे। जो दोग प्राचीनों की पुस्तकों की समालोचना के खिलाफ हैं वे, और, फिपय हमारे अन्य मिश भी ऐसी ही तर्कना करते हैं।”

इस टिप्पणी में जो संकेत किया गया है वही व्यवहार द्विवेदी जी के साथ, संस्कृत-कवियों के दोप दिखाने पर, किया गया था। इस विरोध का कारण जानने के लिए मैंने द्विवेदी जी की ‘कालिदास की निरंकुशता’ भी गौर से देखी और मनसाराम जी की ‘निरंकुशता-निर्दर्शन’ का भी अध्ययन किया। ठंडे दिल से दोनों पक्षों के विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ भी देख गया। द्विवेदी जी ने जो दोप दिखाये हैं वे दोप हैं या नहीं, मनसाराम जी ने उनका जो खंडन किया है, वह यथार्थ है या नहीं, इस विपय पर तो कुछ कहने की हममें योग्यता नहीं। हाँ, इतना लिखना हम आवश्यक समझते हैं कि पक्ष-विपक्ष के बहुत-से विद्वान् द्विवेदी जी और उनके उद्देश्य को, कम से कम इस विपय में, समझे नहीं। द्विवेदी जी ने प्राचीन कवियों की समालोचना तो की ही नहीं है। उन्होंने तो संस्कृत-समालोचकों के कालिदास की छतियों में दिखाये हुए दोपों का अनुवाद-सा करके पाठकों के सामने रख दिया है। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में वावू कालिदास जी कपूर को लिखी थी। पत्र ३१-१-१८ को लिखा गया था। उसमें उन्होंने लिखा था—

“निरंकुशता का उद्देश्य निंदा नहीं। उसका अधिकांश क्या, ग्रायः सर्वंश प्राचीन टीकाकारों का ही माल है।”

अतः विरोध की कहीं गुंजाइश ही नहीं थी और यदि विरोध किया जाना ही चाहिए था तो द्विवेदी जी का नहीं, बरन

भी समालोचना करेंगे। जो थोग प्राचीनों की उत्तरकों की समालोचना के खिलाफ हैं वे, और, क्षतिपूर्य हमारे अन्य मिश्र भी ऐसी ही तर्कना करते हैं।”

इस टिप्पणी में जो संकेत किया गया है वही व्यवहार द्विवेदी जी के साथ, संस्कृत-कवियों के दोप दिखाने पर, किया गया था। इस विरोध का कारण जानने के लिए मैंने द्विवेदी जी की ‘कालिदास की निरंकुशता’ भी शौर से देखी और मनसाराम जी की ‘निरंकुशता-निर्दर्शन’ का भी अध्ययन किया। ठंडे दिल से दोनों पक्षों के विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ भी देख गया। द्विवेदी जी ने जो दोप दिखाये हैं वे दोप हैं या नहीं, मनसाराम जी ने उनका जो खंडन किया है, वह यथार्थ है या नहीं, इस विषय पर तो कुछ कहने की हममें योग्यता नहीं। हाँ, इतना लिखना हम आवश्यक समझते हैं कि पक्ष-विषयक के बहुत-से विद्वान् द्विवेदी जी और उनके उद्देश्य को, कम से कम इस विषय में, समझे नहीं। द्विवेदी जी ने प्राचीन कवियों की समालोचना तो की ही नहीं है। उन्होंने तो संस्कृत-समालोचकों के कालिदास की कृतियों में दिखाये हुए दोषों का अनुवाद-सा करके पाठकों के सामने रख दिया है। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में वावू कालिदास जी कपूर को लिखी थी। पत्र ३१-१-१८ को लिखा गया था। उसमें उन्होंने लिखा था—

“निरंकुशता का उद्देश्य निंदा नहीं। उसका अधिकांश क्या, प्रायः सर्वश प्राचीन टीकाकारों का ही माल है।”

अतः विरोध की कहीं गुंजाइश ही नहीं थी और यदि विरोध किया जाना ही चाहिए था तो द्विवेदी जी का नहीं, बरन

खब्र विक्री होवे। और कोई कार्य खिदमत मेरे योग्य होय तो  
लिखिए बसरोचक्षम तामील की जावेगी।

इति शुभम्।

भवदीय  
पुस्तकाध्यक्षः”

द्विवेदीजी ने कोई खिदमत योग्य कार्य लिखने के बजाय ‘सरस्वती’ (भाग १६, संख्या ४) में यह लिख दिया—

“एक महाशय ने हिंदी का एक छोटा-सा व्याकरण बनाया है। वह ‘शार्वार्थ कक्षा ४’ है। इस पुस्तक की एक पुरानी और महामैली कापी से हमें किसी ने कृतार्थ किया है। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ की पीठ पर पेसिल से लिखा हुआ उद्दौ में कुछ हिसाब-किताब भी दर्ज है। इसके साथ ही एक पत्र हमें मिला है, जिस पर किसी के दस्तावेज नहीं हैं।”

यह स्पष्टवादिता लोगों को उनका विरोधी न बना देती तो क्या करती? ‘विश्वकोप’ की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने जून, १९२७ की सरस्वती में लिखा—

“आलोचना से प्रकाशकों का मतलब इस कोप की केवल प्रशंसा या विज्ञापन से है। उनके पत्र से यही बात सूचित होती है; क्योंकि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है—

A good deal of the prospects of the book depends on your appreciation of its merit and public announcements of the same.

परन्तु हमारा कर्तव्य हिन्दी-विश्व-कोप के प्रकाशकों की आज्ञा का पालन करने के सिवा और भी कुछ है। जो सज्जन इस लेख को

खूब विक्री होवे। और कोई कार्य स्थिरता मेरे योग्य होन तो  
लिखिए बसरोच्चरम तामील की जावेगी।

इति शुभम्।

भवदीय

पुस्तकाध्यक्ष”

द्विवेदीजी ने कोई स्थिरता योग्य कार्य लिखने के बजाय  
‘सरस्वती’ ( भाग १६, संख्या ४ ) में यह लिख दिया—

“एक महाशय ने हिंदी का एक छोटा-सा व्याकरण बनाया है।  
वह ‘ज्ञात्वार्थ कक्षा ४’ है। इस पुस्तक की एक पुरानी और महामैली  
कापी से हमें किसी ने कृतार्थ किया है। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ की  
पीठ पर पेंसिल से लिखा हुआ उद्दृ० में कुछ हिसाब-किताब भी  
दर्ज है। इसके साथ ही एक पत्र हमें मिला है, जिस पर किसी के  
दस्तावेज नहीं हैं।”

यह स्पष्टवादिता लोगों को उनका विरोधी न बना देती तो  
क्या करती? ‘विश्वकोप’ की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी  
ने जून, १९२७ की सरस्वती में लिखा—

“आलोचना से प्रकाशकों का मतलब इस कोप की केवल  
प्रशंसा या विज्ञापन से है। उनके पत्र से यही बात सूचित होती है;  
क्योंकि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है—

A good deal of the prospects of the book  
depends on your appreciation of its merit and  
public announcements of the same.

परन्तु हमारा कर्तव्य हिन्दी-विश्व-कोप के प्रकाशकों की आज्ञा  
का पालन करने के सिवा और भी कुछ है। जो सज्जन इस लेख को

हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना से होनेवाले लाभ को तो उनके विरोधियों ने भी स्वीकार किया था। वे जानते थे कि उनकी की हुई आलोचना का हिन्दी में ही नहीं, उनके बाहर भी बड़ा आदर है, और जिस पुस्तक की आलोचना 'सर-स्वती' में निकल जायगी उसकी थोड़ी-बहुत ग्रनियाँ अवश्य विक जायेंगी। 'पुस्तकाध्यक्ष' तथा 'हिन्दी-विश्व-कोप' के प्रकाशकों के उक्त पत्रों से भी यह बात समष्ट हो जाती है। म्यूं द्विवेदी जी ने ही इस बात को कई बार कहा था। उनकी, सन् १९०० में ही उन्हें अपनी आलोचना-विपक्ष सफलता का अनुमान हो गया था। फाँसी से उन्होंने लिखा था—

The public acknowledged the good result produced by my work as a critic, and the fact of not a single newspaper contradicting the defects of the books that I have exposed, proves that the public has accepted my views. That my reviews have done ample service to the cause of Hindi literature is evident from the action of the reviser of the 3rd Hindi Reader who has adopted nearly three-fourths of the suggestions made by me.

### प्रभाव और समीक्षा

यद्यपि द्विवेदी जी का समालोचना-सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा था, तथापि उनकी समालोचनायें विवेचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक ही हैं, मनन की विशेष सामग्री उनमें नहीं है। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने एक पत्र बाबू कालि-

हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना से होनेवाले लाभ को तो उनके विरोधियों ने भी स्वीकार किया था। वे जानते थे कि उनकी की हुई आलोचना का हिन्दी में ही नहीं, उसके बाहर भी बड़ा आदर है, और जिस पुस्तक की आलोचना 'सर-सती' में निकल जायगी उसकी थोड़ी-बहुत प्रतियाँ अवश्य विक जायेंगी। 'पुस्तकाध्यक्ष' तथा 'हिंदी-विश्व-कोष' के प्रकाशकों के उक्त पत्रों से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। म्यूं द्विवेदी जी ने ही इस बात को कई बार कहा था। उनकी, सन् १९०० में ही उन्हें अपनी आलोचना-विषयक सफलता का अनुमान हो गया था। झाँसी से उन्होंने लिखा था—

The public acknowledged the good result produced by my work as a critic, and the fact of not a single newspaper contradicting the defects of the books that I have exposed, proves that the public has accepted my views. That my reviews have done ample service to the cause of Hindi literature is evident from the action of the reviser of the 3rd Hindi Reader who has adopted nearly three-fourths of the suggestions made by me.

### प्रभाव और समीक्षा

यद्यपि द्विवेदी जी का समालोचना-सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा था, तथापि उनकी समालोचनायें विवेचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक ही हैं, मनन की विशेष सामग्री उनमें नहीं है। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने एक पत्र बाबू कालि-

और महेश तीनों को आवश्यकता रही है और रहेगी। यदि ब्रह्मा और विष्णु का काम होता रहा और शिव अपने वरणों को साथ लेकर अपने संहार-कार्य में संग रित न द्वाए तो साहित्य-सृष्टि के सभी कार्य अव्यवस्थित हो जाएंगे।

हाँ, यह दूसरी बात है कि एक सावारण समाजिक व्यक्ति के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश बन जाना सरल नहीं है। सा हत्यो-न्रति की सात्त्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर जो द्विवेदों जा समालोचना किया करते थे, स्वयं उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदैव निष्पक्ष रहे हैं। निष्पक्ष विवेचना का दम भरनेवालों को श्रीयुत नवीनचन्द्र का यह कथन स्मरण रखना चाहिए—

“यह तो निश्चित है ही कि कोई भी मनुष्य अपने चिरकालाजिंत संस्कारों और धारणाओं के विरुद्ध कोई बात लिख ही नहीं सकता। तब उसकी समाजोचना निष्पक्ष कैसे हो सकती है? हमारा लोग यह रुचाल है कि जो लोग निष्पक्ष होने का दावा रखते हैं, वे मानों अपनी रिस्सारता सिद्ध करना चाहते हैं।”

—सरांखती (भा० २३, सं० १, पृ० १७)

फिर भी हम यही कहेंगे कि सच्चा समालोचक साहित्य और समाज की निष्पक्ष होकर आलोचना करता है। वह चाहता है कि साहित्य और समाज में छाई हुई निस्तव्यता भंग कर दी जाय और लेखकों तथा समाज के व्यक्तियों को उनकी हीनता और त्रुटि से इस प्रकार परिचित करा दिया जाय कि वे उन दोषों और त्रुटियों को दूर करने के लिए कठिनदू हो जायें। द्विवेदी जो ने भी यही किया। समाज की बात जाने वीजिए, साहित्यिक क्षेत्र में आरंभ से ही उनका उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करता रहा है।

और महेश तीनों को आवश्यकता रही है और रहेगी। यदि ब्रह्मा और विष्णु का काम होता रहा और शिव अपने गणों को साथ लेकर अपने संहार-कार्य में संगत न हुए तो साहित्य-सृष्टि के सभी कार्य अव्यवस्थित हो जाएँगे।

हाँ, यह दूसरी बात है कि एक साधारण सामाजिक व्यक्ति के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश बन जाना सरल नहीं है। सा हत्यो-न्रति की सात्त्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर जो द्विवेदों जा समालोचना किया करते थे, स्वयं उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदैव निष्पक्ष रहे हैं। निष्पक्ष विवेचना का दम भरनेवालों को श्रीयुत नवोनचन्द्र का वह कथन स्मरण रखना चाहिए—

‘यह तो निश्चित है ही कि कोई भी मनुष्य अपने चिरकालान्तिर संस्कारों और धारणाओं के बिरद्द कोई बात लिख ही नहीं सकता। तब उसकी समाजोचना निष्पक्ष कैडे हो सकती है? हमारा तो यह च्याल है कि जो लोग निष्पक्ष होने का दावा रखते हैं, वे मार्त्तों अपनी रिस्सारता सिद्ध करना चाहते हैं।’

—सरस्वती (भा० २३, सं० १, पृ० १७)

फिर भी हम यही कहेंगे कि सच्चा समालोचक साहित्य और समाज की निष्पक्ष होकर आलोचना करता है। वह चाहता है कि साहित्य और समाज में छाई हुई निस्तव्यता भंग कर दी जाय और लेखकों तथा समाज के व्यक्तियों को उनकी हीनता और त्रुटि से इस प्रकार परिचित करा दिया जाय कि वे उन दोषों और त्रुटियों को दूर करने के लिए कटिवद्ध हो जायें। द्विवेदों जी ने भी यही किया। समाज की बात जाने वीजिष्ठ, साहित्यिक क्षेत्र में आरंभ से ही उनका उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य की ओर जानता का ध्यान आकर्षित करता रहा है।

बड़े, सभी प्रकार के दोपों का दिग्दर्शनमात्र कराया था तथा आगे चलकर संस्कृत के अनेक सुप्रसिद्ध कवियों की विशेषता-परिचायक सभीक्षा की थी, जिसे देखकर हिंदी-साहित्य-केन्द्र में धाँधली मचानेवाले अनधिकारी लोगों ने अनधिकार की चर्चा करना ही छोड़ दिया, वह कालांतर में पूर्ण हुआ और समालोचना साहित्य का प्रधान अंग समझी जाने लगी। फलतः साहित्य-सेवियों का ध्यान साहित्य के इस नवीन अंग की पूर्ति की ओर भी गया। कुछ ही दिनों में आलोचना विषय पर अनुवादित और मौलिक ग्रंथ हिंदी में दिखाई देने लगे जिससे उच्च कोटि के साहित्य की पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं।

बड़े, सभी प्रकार के दोषों का दिग्दर्शनमात्र कराया था तथा आगे चलकर संस्कृत के अनेक सुप्रसिद्ध कवियों की विशेषता-परिचायक समीक्षा की थी, जिसे देखकर हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले अनधिकारी लोगों ने अनधिकार की चर्चा करना ही छोड़ दिया, वह कालांतर में पूर्ण हुआ और समालोचना साहित्य का प्रधान अंग समझी जाने लगी। फलतः साहित्य-सेवियों का ध्यान साहित्य के इस नवीन अंग की पूर्ति की ओर भी गया। कुछ ही दिनों में आलोचना विषय पर अनुवादित और मौलिक ग्रंथ हिंदी में दिखाई देने लगे जिससे उच्च कोटि के साहित्य की पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं।

---

लिखे थे, जिनमें पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष आदर से लिये जाते हैं। मिश्र जी प्रायः सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लिखा करते थे; उनके साहित्यिक लेख अधिक नहीं हैं। भट्ट जी के लेख अधिकतर गंभीर और भावपूर्ण हैं; उनमें घनिष्ठता और व्यक्तित्व की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। इन्हें हम साहित्यिक और कल्पना सापेक्ष कह सकते हैं। इनकी समता अँगरेजी के सुप्रसिद्ध निवंधलेखक चार्ल्स लैम्ब से की जा सकती है।

इनके अतिरिक्त और भी दो-चार छोटे-मोटे निवंध-लेखक इस समय में हुए, परवे इतनी प्रसिद्धि न पा सके। कारण यह था कि इन लेखकों का सारा ध्यान साहित्य के इसी महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति की ओर न था। ये लोग कभी अखबार निकालते थे, कभी उपन्यास और नाटक लिखते थे और कभी कविता की आलोचना अथवा इतिहास की खोज करते थे। मिश्र जी और भट्ट जी के बाद बावू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविंदनारायण मिश्र और पंडित माधवप्रसाद मिश्र आदि का नाम आता है। इनमें गुप्त जी तो निवंधलेखक की हैसियत से प्रसिद्ध हैं और शेष दोनों लेखक अपनी शैलियों की विशेषता के कारण। यही लेखक हमें द्विवेदी-युग में ले जाते हैं।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय हिंदी में अन्य भाषाओं की अपेक्षा साहित्यिक निवंध बहुत कम थे। जिस समय उन्होंने 'सरस्वती' का संपादनकार्य ग्रहण किया, उस समय किसी को यह आशा न थी कि वे साहित्य के इस रिक्त अंश की

लिखे थे, जिनमें पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष आदर से लिये जाते हैं। मिश्र जी प्रायः सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर लिखा करते थे; उनके साहित्यिक लेख अधिक नहीं हैं। भट्ट जी के लेख अधिकतर गम्भीर और भावपूर्ण हैं; उनमें घनिष्ठता और व्यक्तित्व की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। इन्हें हम साहित्यिक और कल्पना सापेक्ष कह सकते हैं। इनकी समता अँगरेजी के सुप्रसिद्ध निवंधलेखक चार्ल्स लैम्ब से की जा सकती है।

इनके अतिरिक्त और भी दो-चार छोटे-मोटे निवंध-लेखक इस समय में हुए, परंवे इतनी प्रसिद्धि न पा सके। कारण यह था कि इन लेखकों का सारा ध्यान साहित्य के इसी महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्ति की ओर न था। ये लोग कभी अखबार निकालते थे, कभी उपन्यास और नाटक लिखते थे और कभी कविता की आलोचना अथवा इतिहास की खोज करते थे। मिश्र जी और भट्ट जी के बाद बावू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविंदनारायण मिश्र और पंडित माधवप्रसाद मिश्र आदि का नाम आता है। इनमें गुप्त जी तो निवंधलेखक की हैसियत से प्रसिद्ध हैं और शेष दोनों लेखक अपनी शैलियों की विशेषता के कारण। यही लेखक हमें द्विवेदी-युग में ले जाते हैं।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय हिंदी में अन्य भाषाओं की अपेक्षा साहित्यिक निवंध बहुत कम थे। जिस समय उन्होंने 'सरस्वती' का संपादनकार्य ग्रहण किया, उस समय किसी को यह आशा न थी कि वे साहित्य के इस रिक्त अंश की

ऐसे लेख न छपते हों। जनता के लिए ये विषय नये थे, अतः वह इन्हें विशेष आदर की हास्ति में देखती थी।

द्विवेदी जी के निवंधों में मुख्य पाँच विभाग किये जा सकते हैं—

१—साहित्यिक।

२—जीवनियाँ।

३—आधिकार और विज्ञान-संबंधी।

४—पुरातन्त्र और इतिहास-संबंधी।

५—आश्चर्य-नक्काश और कौतूहल-वर्द्धक।

६—साहित्यिक—

द्विवेदी जी के साहित्य-विषयक निवंध ५० के ऊपर हैं। ये विशेष आदर की हास्ति में देखे जाते हैं। इनमें से कुछ तो भाषा और व्याकरण पर लिखे गये हैं, कुछ साहित्य-विवेचन पर। कुछ में ग्रन्थों का आलोचनात्मक परिचय है और कुछ में भाषा व साहित्य-शास्त्रीय परिचय। इस प्रकार हम इनके चार भाग बार सकते हैं—

(क) हिंदी भाषा और व्याकरण-संबंधी—उन समय लेखक भाषा और व्याकरण के नियमों को विशेष परवा नहीं करते थे, अतः उनके लेखों में भाषा और व्याकरण-संबंधी दोषों की भर-भार रहती थी। द्विवेदी जी ने ऐसे लेखकों को मायथान करने के लिए ‘भाषा और व्याकरण के दोष’, ‘भाषा की अनस्थिरता’ आदि लेख लिखे। इन लेखों के द्वारा उन्होंने लोगों के सामने भाषा की शुद्धता का प्रश्न रखा। हिंदी-संसार में अपूर्व जागृति दिखाई देने लगी और भाषा व व्याकरण-संबंधी वादविवाद उठ खड़े हुए। इन विवादों से भाषा और शब्दों के म्बपों में बहुत

ऐसे लेख न अपते हों। जनता के लिए ये विषय नये थे, अतः वह इन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखती थी।

द्विवेदी जी के निवंधों में मुख्य पाँच विभाग किये जा सकते हैं—

१—साहित्यिक।

२—जीवनियाँ।

३—आधिकार और विज्ञान-संबंधी।

४—पुरातत्त्व और इतिहास-संबंधी।

५—आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक।

६—साहित्यिक—

द्विवेदी जी के साहित्य-विषयक निवंध ५० के ऊपर हैं। ये विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इनमें से कुछ तो भाषा और व्याकरण पर लिखे गये हैं, कुछ साहित्य-विवेचन पर। कुछ में ग्रन्थों का आलोचनात्मक परिचय है और कुछ में भाषा व साहित्य-शास्त्रीय परिचय। इस प्रकार हम इनके चार भाग कर सकते हैं—

(क) हिंदी भाषा और व्याकरण-संबंधी—उस समय लेखक भाषा और व्याकरण के नियमों की विशेष परवा नहीं करते थे, अतः उनके लेखों में भाषा और व्याकरण-संबंधी दोपों की भर-मार रहती थी। द्विवेदी जी ने ऐसे लेखकों को मावधान करने के लिए ‘भाषा और व्याकरण के दोप’, ‘भाषा की अनस्थिरता’ आदि लेख लिखे। इन लेखों के द्वारा उन्होंने लोगों के सामने भाषा की शुद्धता का प्रश्न रखा। हिंदी-संसार में अपूर्व जागृति दिखाई देने लगी और भाषा व व्याकरण-संबंधी वादविवाद उठ खड़े हुए। इन विवादों से भाषा और शब्दों के म्पों में बहुत

नहीं। हिन्दी का साहिल्य इस प्रकार के निवन्धों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और और वातों में बँगला और मराठी भाषा का साहिल्य हिन्दी-साहित्य से बदा हुआ है, वैसे ही वह इस विषय में भी है।”

दूसरे प्रकार के निवंध वे हैं जिनमें हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना की गई है। ये आलोचनायें हिन्दी की उन पुस्तकों की हैं जो द्विवेदी जी के समय में प्रकाशित होती और उनके पास समालोचनार्थ आती थीं। इनमें इतिहास, विज्ञान, भूगोल, गद्य-पद्य, नाटक, उपन्यास, जीवनचरित, धर्म आदि सभी विषयों की पुस्तकें हैं। द्विवेदी जी ने इन पुस्तकों की आलोचना करते समय नीर-कीर-विवेक का अच्छा परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त सरकारी वार्षिक रिपोर्टों का भी आलोचनात्मक परिचय वे अपने पाठकों को समय समय पर दिया करते थे। इन समालोचनाओं से हिन्दी-साहित्य के कूरा-करकट को छाँटने और नये होनहार लेखकों को प्रोत्साहित करने का आश्र्यजनक कार्य हुआ।

तीसरे प्रकार के निवंध अन्य भाषाओं के ग्रंथों की आलोचना-संवंधी हैं। जैसे मराठी के रामायण और महाभारत नामक ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय। ऐसी आलोचनाओं में न केवल उनके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है प्रत्युत उनकी तुलना में हिन्दी-साहित्य में जो कमी थी उनका भी निर्दर्शन किया गया है—हिन्दी-लेखकों के लिए ऐसी आलोचनायें मार्गप्रदर्शन का काम करती थीं।

(ब) साहित्य-शास्त्र—‘नाट्यशास्त्र’, ‘हिन्दी भाषा की उत्पत्ति’ शीर्षक निवंध साहित्यशास्त्र-संवंधी लेख हैं। ये लेख कुछ बड़े हैं और अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके

नहीं। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के निवन्धों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और और वातों में बँगला और मराठी भाषा का साहित्य हिन्दी-साहित्य से बदा हुआ है, वैसे ही वह दृस विषय में भी है।”

दूसरे प्रकार के निवंध वे हैं जिनमें हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना की गई है। ये आलोचनायें हिन्दी की उन पुस्तकों की हैं जो द्विवेदी जी के समय में प्रकाशित होती और उनके पास समालोचनार्थ आती थीं। इनमें इतिहास, विज्ञान, भूगोल, गद्य-पद्य, नाटक, उपन्यास, जीवनचरित, धर्म आदि सभी विषयों की पुस्तकें हैं। द्विवेदी जी ने इन पुस्तकों की आलोचना करते समय नीर-कीर-विवेक का अच्छा परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त सरकारी वार्षिक रिपोर्टों का भी आलोचनात्मक परिचय वे अपने पाठकों को समय समय पर दिया करते थे। इन समालोचनाओं से हिन्दी-साहित्य के कूरा-करकट को छाँटने और नये होनहार लेखकों को प्रोत्साहित करने का आश्र्यजनक कार्य हुआ।

तीसरे प्रकार के निवंध अन्य भाषाओं के ग्रंथों की आलोचना-संबंधी हैं। जैसे मराठी के रामायण और महाभारत नामक ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय। ऐसी आलोचनाओं में न केवल उनके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है प्रत्युत उनकी तुलना में हिन्दी-साहित्य में जो कमी थी उनका भी निर्दर्शन किया गया है—हिन्दी-लेखकों के लिए ऐसी आलोचनायें मार्गप्रदर्शन का काम करती थीं।

(ब) साहित्य-शास्त्र—‘नाट्यशास्त्र’, ‘हिन्दी भाषा की उत्पत्ति’ शीर्षक निवंध साहित्यशास्त्र-संबंधी लेख हैं। ये लेख कुछ बड़े हैं और अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके

जाग्रत हो और इस दिशा में उन्हें प्रोत्साहन मिले। दूसरे प्रकार की जीवनियाँ—यथा मायकेल मधुसूदनदत्त, नवीनचन्द्र राय व रवीन्द्रनाथ ठाकुर की। इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि इन महापुरुषों को देश-विदेश में जो ख्याति प्राप्त हुई है उससे प्रभावित होकर लोग हिंदी-सेवा की ओर झुकें और साथ ही यह भी देख सकें कि इन मनस्त्रियों की सेवा और आराधना से इनकी मातृभाषा कैसी श्रीसम्पन्न हो गई है और हमारी मातृभाषा हिंदी अब तक कैसी रंक और हीन बनी हुई है। इस प्रकार के लेख ‘सुकवि-संकीर्तन’ में संगृहीत हैं।

(ख) विद्वानों, इतिहास-चेताओं और चक्षाओं की जीवनियाँ—द्विवेदी जी ने ऐसे जिन व्यक्तियों के विषय में लिखा है, वे प्रायः सभी भारतवासी थे; पर अधिकांश अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर विदेशी भाषाओं में लिखा करते थे। उनका संक्षिप्त परिचय देकर द्विवेदी जी उनसे अपनी मातृभाषा को अपनाने और उसी में लिखने का अनुरोध किया करते थे। उनके इस उद्योग से हिंदी को कई प्रतिभाशाली लेखक प्राप्त हो गये थे। महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ भा का नाम भी उन्हीं लेखकों में आता है, जो पहले अँगरेजी में ही लिखते थे, पर द्विवेदी जी की प्रेरणा से हिंदी में भी लिख ने

(ग) शाहों, सुल्तानों और अमीरों की जीवनियाँ—इनमें से जो ऐतिहासिक हैं उन हेतु लिखने का उद्देश्य यह था कि उनसे पाठकों का मनोविनोद भी हो और साथ ही साथ उन्हें इतिहास का भी ज्ञान हो। कुछ जीवनियों में ऐसे तथ्य भी दिये गये हैं जिन्हें किसी कारणवश उस समय के इतिहास-लेखक छिपाना चाहते थे। फलतः इतिहास के विद्यार्थियों

जाग्रत हो और इस दिशा में उन्हें प्रोत्साहन मिले। दूसरे प्रकार की जीवनियाँ—यथा मायकेल मधुसूदनदत्त, नवीन-चन्द्र राय व रवीन्द्रनाथ ठाकुर की। इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि इन महापुरुषों को देश-विदेश में जो ख्याति प्राप्त हुई है उससे प्रभावित होकर लोग हिंदी-सेवा की ओर भुकें और साथ ही यह भी देख सकें कि इन मनस्त्रियों की सेवा और आराधना से इनकी मातृभाषा कैसी श्रीसम्पन्न हो गई है और हमारी मातृभाषा हिंदी अब तक कैसी रंक और हीन बनी हुई है। इस प्रकार के लेख ‘सुकवि-संकीर्तन’ में संगृहीत हैं।

(ख) विद्वानों, इतिहास-वेत्ताओं और वक्ताओं की जीवनियाँ—द्विवेदी जी ने ऐसे जिन व्यक्तियों के विषय में लिखा है, वे प्रायः सभी भारतवासी थे; पर अधिकांश अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर विदेशी भाषाओं में लिखा करते थे। उनका सांक्षिप्त परिचय देकर द्विवेदी जी उनसे अपनी मातृभाषा को अपनाने और उसी में लिखने का अनुरोध किया करते थे। उनके इस उद्योग से हिंदी को कई प्रतिभाशाली लेखक प्राप्त हो गये थे। महामहोपाध्याय डॉक्टर गंगानाथ भा का नाम भी उन्हीं लेखकों में आता है, जो पहले अँगरेजी में ही लिखते थे, पर द्विवेदी जी की प्रेरणा से हिंदी में भी लिख ने।

(ग) शाहों, सुल्तानों और अमीरों की जीवनियाँ—इनमें से जो ऐतिहासिक हैं उनके लिखने का उद्देश्य यह था कि उनसे पाठकों का मनोविनोद भी हो और साथ ही साथ उन्हें इतिहास का भी ज्ञान हो। कुछ जीवनियों में ऐसे तथ्य भी दिये गये हैं जिन्हें किसी कारणवश उस समय के इतिहास-लेखक छिपाना चाहते थे। फलतः इतिहास के विद्यार्थियों

विरुद्ध उन्होंने कई स्वतंत्र लेख व कवितायें लिखी थीं। उस समय के सुधारकों का परिचय लिखने में भी द्विवेदी जी का खास ध्येय यही था जि जनता समाजगत बुराइयों को समझ जाय और सुधारकों के बतलाये हुए मार्ग पर चलकर अधिक से अधिक उन्नति कर सके।

### ३—आविष्कार और विज्ञान-संबंधी—

विज्ञान हिंदी के लिए विलकुल ही नया विषय था और पहले-पहल द्विवेदी जी ने ही इस पर लिखना शुरू किया। इस प्रकार के निवंध भी अधिकतर 'सरस्वती' के संपादनकाल में ही लिखे गये थे। इनको लिखने में दूसरी पुस्तकों—विशेष कर अँगरेजी पत्र-पत्रिकाओं—से विशेष सहायता ली गई थी। आविष्कार और विज्ञान-संबंधी लेखों की आवश्यकता और महत्ता पर 'शिक्षा' नाम की पुस्तक की भूमिका (पृष्ठ ४,५) में द्विवेदी जी लिखते हैं—

“व्यापार-धर्म करके यथेष्ट धन-संपादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि, इस समय, इस विषय में हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन है रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनीतिक विषयों की उन्नति होना प्रायः असंभव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनीतिक विषयों की उन्नति की आशा रखना केवल दुराशा है। इसलिए हम लोगों को उद्दरपूर्ति के लिए पहले प्रवक्त करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक-मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसा लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।”

विरुद्ध उन्होंने कई स्वतंत्र लेख व कवितायें लिखी थीं। उस समय के सुधारकों का परिचय लिखने में भी द्विवेदी जी का खास ध्येय यही था जि जनता समाजगत दुराइयों को ममझ जाय और सुधारकों के बतलाये हुए मार्ग पर चलकर अधिक से अधिक उन्नति कर सके।

### ३—आविष्कार और विज्ञान-संबंधी—

विज्ञान हिंदी के लिए विलकुल ही नया विषय था और पहले-पहल द्विवेदी जी ने ही इस पर लिखना शुरू किया। इस प्रकार के निवंध भी अधिकतर 'सरस्वती' के संपादनकाल में ही लिखे गये थे। इनको लिखने में दूसरी पुस्तकों—विशेष कर अँगरेजी पत्र-पत्रिकाओं—से विशेष सहायता ली गई थी। आविष्कार और विज्ञान-संबंधी लेखों की आवश्यकता और महत्ता पर 'शिक्षा' नाम की पुस्तक की भूमिका (पृ० ४,५) में द्विवेदी जी लिखते हैं—

"व्यापार-धर्मां करके यथैष धन-संपादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि, इस समय, इस विषय में हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन हो रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनैतिक विषयों की उच्चति होना प्रायः असंभव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनैतिक विषयों की उच्चति की आशा रखना केवल दुराशा है। इसलिए हम लोगों को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रवक्त करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक-मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसा लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।"

संगृहीत हैं। यह पुस्तक गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ, से प्रकाशित हुई है। इसमें 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', 'आकाश में निराधार स्थिति', 'अंतःसाक्षित्व-विद्या', 'परलोक से प्राप्त हुए पत्र', 'एक ही शरीर में अनेक आत्मायें' आदि अनेक आश्चर्य-जनक पत्र कौतूहल-चर्चक विषयों पर लिखे हुए निवंधों का समावेश है। इस पुस्तक के आरंभ में परिचय देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

“इस संग्रह में २३ लेख हैं। कुछ योड़े ही समय पूर्व के लिखे हुए हैं। जो पुराने हैं, वे पुराने होकर भी पुराने नहीं। एक तो भूली हुई पुरानी बात मी सुनने पर नई मालूम होती है। दूसरे, इस पुस्तक में जिन विषयों का उल्लेख है, उनमें से अधिकांश पुराने हो ही नहीं सकते।”

इन निवंधों की उपयोगिता पर भी हम अपनी ओर से कुछ न कह कर द्विवेदी जी का कथन ही दोहरा देना उचित समझते हैं—

“कामों से छुट्टी मिलने पर, मनोरंजन की छूच्छा रखनेवाले पुस्तकप्रेमी इसके पाठ से अपने समय का सदृश्य कर सकते हैं; और समझ है, इससे उन्हें कुछ नई वातें मालूम हो जायें।”

संक्षेप में द्विवेदी जी ने प्रायः सभी विषयों पर लेख लिखे हैं। उनमें से अनेक विषय तो उस समय के लिए विलकुल नये ही थे। यदि उनका इतना प्रचार हो गया है तो इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय? वीसवीं शताब्दी के आरंभ में निवंध-रचना की ओर साहित्य-सेवियों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले द्विवेदी जी ही थे। उनको रास्ता दिखाने के लिए उन्होंने लार्ड बेकन के कुछ निवंधों का 'बैकन-विचार-

संगृहीत हैं। यह पुस्तक गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ, से प्रकाशित हुई है। इसमें 'एक योगी की सामाहिक समाधि', 'आकाश में निराधार स्थिति', 'अंतःसाक्षित्व-विद्या', 'परलोक से प्राप्त हुए पत्र', 'एक ही शरीर में अनेक आत्मायें' आदि अनेक आश्चर्य-जनक एवं कौतूहल-वर्णक विषयों पर लिखे हुए निवंधों का समावेश है। इस पुस्तक के आरंभ में परिचय देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

"इस संग्रह में २१ लेख हैं। कुछ पुराने हैं, कुछ थोड़े ही समय पूर्व के लिखे हुए हैं। जो पुराने हैं, वे पुराने होकर भी पुराने नहीं। पक्तो भूली हुई पुरानी बात मी सुनने पर नहीं मालूम होती है। दूसरे, इस पुस्तक में जिन विषयों का उल्लेख है, उनमें से अधिकांश पुराने हो ही नहीं सकते।"

इन निवंधों की उपयोगिता पर भी हम अपनी ओर से कुछ न कह कर द्विवेदी जी का कथन ही दोहरा देना उचित समझते हैं—

"कामों से छुट्टी मिलने पर, मनोरंजन की इच्छा रखनेवाले पुस्तकप्रेमी इसके पाठ से अपने समय का सदृश्य कर सकते हैं; और समझ है, इससे उन्हें कुछ नहीं बातें मालूम हो जायें।"

संक्षेप में द्विवेदी जी ने प्रायः सभी विषयों पर लेख लिखे हैं। उनमें से अनेक विषय तो उस समय के लिए बिलकुल नये ही थे। यदि उनका इतना प्रचार हो गया है तो इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय? वीसवीं शताब्दी के आरंभ में निवंध-रचना की ओर साहित्य-सेवियों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले द्विवेदी जी ही थे। उनको रास्ता दिखाने के लिए उन्होंने लार्ड बेकन के कुछ निवंधों का 'बेकन-विचार-

हिंदी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति करने के लिए उत्साहित किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। उनकी इच्छा पूर्ण हुई और हिंदी की दिन-दिन उन्नति होने लगी। एक शब्द में द्विवेदी जी के लेखों का यही महत्त्व है।

### पुस्तकें

सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक जानसन की सब पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद, फ्रांस, जर्मनी और इटली के बड़े-बड़े विद्वानों ने आश्चर्य से कहा था—इतना काम तो कई साहित्यिक संस्थाओं का होना चाहिए—शायद कई 'अकेडमी' मिल कर भी इतने थोड़े समय में इतना नहीं लिख सकतीं जितना इस एक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में लिखा है। यही बात द्विवेदी जी के विषय में भी कही जा सकती है। मोटे तौर पर दोनों विद्वानों ने, जिनमें श्रीयुत शिवपूजनसंहाये जी और पंडित यज्ञदत्त जी शुल्क बी० ए० का नाम विशेष उल्लेखनीय है, हिंदूव लगाकर अनुमान किया है कि लगभग २५ वर्ष के अंदर द्विवेदी जी ने लगभग २५ हजार पृष्ठ—एक वर्ष में लगभग १ हजार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमें अधिकांश लेख हैं, जो प्रायः सभी पुस्तकों के रूप में संकलित हो चुके हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ और एक-एक, दो-दो सकों के छोटे-छोटे नोट अभी बाकी हैं। उनकी पुस्तकों की सूची इस प्रकार है—

### पद्ध

- (१) विनय-विनोद (१८८६) (२) विहार-वाटिका (१८६०)
- (३) स्नेहमाला (१८६०) (४) अनु-तरंगिणी (१८६१) (५) गंगालहरी (१८६१ अनुवाद) (६) देवीखुतिशतक (१८६३)
- (७) महिम्न-स्तोत्र (८) कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार

हिंदी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति करने के लिए उत्साहित किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें आशातीन सफलता भी मिली। उनकी इच्छा पूर्ण हुई और हिंदी की दिन-दिन उन्नति होने लगी। एक शब्द में द्विवेदी जी के लेखों का यही महत्व है।

### पुस्तकें

मुख्यसिद्ध अँगरेजी लेखक जानसन की सब पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद, फ्रांस, जर्मनी और इटली के बड़े-बड़े विद्वानों ने आश्चर्य से कहा था—इतना काम तो कई साहित्यिक संस्थाओं का होना चाहिए—शायद कई 'अकेडमी' मिल कर भी इतने थोड़े समय में इतना नहीं लिख सकतीं जितना इस एक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में लिखा है। यही बात द्विवेदी जी के विषय में भी कही जा सकती है। मोटे तौर पर दो-एक विद्वानों ने, जिनमें श्रीयुत शिवपूजनसंहाये जी और पंडित यशदत्त जी शुल्क वी० ए० का नाम विशेष उल्लेखनीय है, हिसाब लगाकर अनुमान किया है कि लगभग २५ वर्ष के अंदर द्विवेदी जी ने लगभग २५ हजार पृष्ठ—एक वर्ष में लगभग १ हजार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमें अधिकांश लेख हैं, जो प्रायः सभी पुस्तकों के रूप में संकलित हो चुके हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ और एक-एक, दो-दो सङ्कों के छोटे-छोटे नोट अभी बाकी हैं। उनकी पुस्तकों की सूची इस प्रकार है—

### पद्ध

- (१) विनय-विनोद (१८८६) (२) विहार-वाटिका (१८६०)
- (३) स्नेहमाला (१८६०) (४) ऋतु-तरंगिणी (१८६१) (५) गंगालहरी (१८६१ अनुवाद) (६) देवीसुत्तिशतक (१८६२)
- (७) महिन्न-स्तोत्र (८) कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार

परिचय भी है। 'किरातार्जुनीय के कतिपय दोष और गुणों शीर्षक नोट वडे महत्त्व का है। यह भूमिका ४४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। (२०) आलोचनांजलि (१६२७ लेखों का संग्रह) (२१) आख्यायिका समक (१६२७ वँगला, अँगरेजी और संस्कृत-भाषाओं की भिन्न-भिन्न पुस्तकों के आधार पर १६०२, ३,४ और १३ में लिखी हुई सात कथा-प्रधान कहानियाँ) (२२) कोविद-कीर्तन (१६२७) (२३) विदेशी विद्वान् (१६२७, लेखों का संग्रह) (२४) प्राचीन चिह्न (१६२७) (२५) चरित-चर्या (लेखों का संग्रह) (२६) पुरावृत्त (१६२७) (२७) लोअर प्राइमरी रीडर (२८) अपर प्राइमरी रीडर (२९) शिक्षा-सरोज (रीडर पाँचवाँ भाग) (३०) बालबोध या वर्ण-बोध (प्राइमर) (३१) ज़िले कानपुर का भूगोल (३२) आध्यात्मिकी (१६२६) (३३) औद्योगिकी (१६२०) (३४) रसज्ञ-रंजन (१६२०) (कविता विषयक लेखों का संग्रह) (३५) कालिकास (१६२०) (३६) वैचित्र्य-चित्रण (३७) विज्ञानवार्ता (१६३०, विज्ञानसंवंधी लेखों का संग्रह) (३८) चरित्र-चित्रण (जून १६२६ लेखों का संग्रह) (३९) विज्ञ-विनोद (४०) समालोचना-समुच्चय (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह—१६२८), (४१) वांगिलास, (४२) साहित्य-संदर्भ (१६२४—पुरातन विषयों और पुरातन पुस्तकों-संवंधी २० आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) (४३) वनिता-विलास १६१६—१६०३, ४, १३ में लिखे हुए १० स्थियों के परिचयात्मक जीवनचरितों का संग्रह) (४४) सुकवि-संकीर्तन (१६२२—लेखों का संग्रह) (४५) प्राचीन पंडित और कवि (१६५५; अन्य भाषाओं—विशेष कर मराठी और अँगरेजी—के आधार पर लिखे हुए जीवन-चरित) (४६) संकलन (१६३१) (४७) विचार-विमर्श (१६३१) (४८) पुरातत्त्वप्रसंग (जनवरी १६२६—इसी विषय के लेखों का संग्रह) (४९) साहित्यालाप (लेखों का संग्रह)

परिचय भी है। 'किरातार्जुनीय के कतियय दोष और गुणा' शीर्षक नोट वडे महत्त्व का है। यह भूमिका ४४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। (२०) आलोचनांजलि (१६२७ लेखों का संग्रह) (२१) आख्यायिका सप्तक (१६२७ वँगला, अँगरेजी और संस्कृत-भाषाओं की भिन्न-भिन्न पुस्तकों के आधार पर १६०२, ३,४ और १३ में लिखी हुई सात कथा-प्रधान कहानियाँ) (२२) कोविद-कीर्तन (१६२७) (२३) विदेशी विद्वान् (१६२७, लेखों का संग्रह) (२४) प्राचीन चिह्न (१६२७) (२५) चरित-चर्या (लेखों का संग्रह) (२६) पुरावृत्त (१६२७) (२७) लोअर प्राइमरी रीडर (२८) अपर प्राइमरी रीडर (२९) शिक्षा-सरोज (रीडर पाँचवाँ भाग) (३०) वालवोध या वर्ण-वोध (प्राइमर) (३१) जिले कानपुर का भूगोल (३२) आध्यात्मिकी (१६२६) (३३) औद्योगिकी (१६२०) (३४) रसज्ञ-रंजन (१६२०) (कविता विषयक लेखों का संग्रह) (३५) कालिङ्गास (१६२०) (३६) वैचित्र्य-चित्रण (३७) विज्ञानवार्ता (१६३०, विज्ञानसंवंधी लेखों का संग्रह) (३८) चरित्र-चित्रण (जून १६२६ लेखों का संग्रह) (३९) विज्ञ-विनोद (४०) समालोचना-समुच्चय (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह—१६२८), (४१) वार्गिकलास, (४२) साहित्य-संदर्भ (१६२४—पुरातन विषयों और पुरातन पुस्तकों-संवंधी २० आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) (४३) वनिता-विलास १६१६—१६०३, ४, १३ में लिखे हुए १० छियों के परिचयात्मक जीवनचरितों का संग्रह) (४४) सुकवि-संकीर्तन (१६२२—लेखों का संग्रह) (४५) प्राचीन पंडित और कवि (१६१६; अन्य भाषाओं—विशेष कर मराठी और अँगरेजी—के आधार पर लिखे हुए जीवन-चरित) (४६) संकलन (१६३१) (४७) विचार-विमर्श (१६३१) (४८) पुरातत्त्वप्रसंग (जनवरी १६२६—इसी विषय के लेखों का संग्रह) (४९) साहित्यालाप (लेखों का संग्रह)

वेदना' (नैपध-चरित-चर्चा पर 'मरस्वती'—२५-१-२१०) में मिल सकते हैं। वास्तव में उनके प्रायः सभी अनुवादित ग्रंथों में उनकी भाषा-रूली कमशः विकृति हुई है। इन नवमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर मामग्री मिलती; किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत-कुछ दृढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद् स्थिर में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह नहीं कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष के बाद का विद्यार्थी तो कठाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने घड़ी बोली की भाषा-रूली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व हो, किंतु यह व्यवस्था उनकी कलम के मँज़न पर ही हुई है, और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-संघर्षिति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालान्तर में प्रतिष्ठित हुई है।<sup>१</sup> परंतु यह होते हुए भी हमें मानना पड़ेगा कि उनके अनुवादित ग्रंथ भी मौलिक का-सा आनंद देते हैं और उनसे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति भी होती है।

वेदना' (नैपध-चरित-चर्चा पर 'मरस्वती'—२५-'९-१९१०) में मिल सकते हैं। वास्तव में उनके प्रायः सभी अनुवादित ग्रंथों में उनकी भाषा-शैली क्रमशः विकसित हुई है। इन नवमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर मामणी मिलेगी; किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत-कुछ हँड़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद् स्थिर में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह नहीं कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष के बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने घड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व हो, किंतु यह व्यवस्था उनकी कलम के मैंजन पर ही हुई है और वह निजत्व आतं-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-संपत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालां-नर में प्रतिष्ठित हुई है।\* परंतु यह होते हुए भी हमें मानना पड़ेगा कि उनके अनुवादित ग्रंथ भी मौलिक का-सा आनंद देते हैं और उनसे मनोरंजन के साथ-माथ ज्ञान-प्राप्ति भी होती है।

कंपादिक दीक्षादितन कोर्मी भहै विनाश  
 की गिरिवर मिरगल भये र्णान्मो अमल प्रकाश ॥  
 हुम शास्या रमयुक्त शृङ्खल अर्थ यदरल दानि ।  
 हृषि आह धरणी गर्भी समुक्त लापत गलाचि ॥  
 तानि रमास्तिपति इन सर्वे नर युग नाम रिहान ।  
 उदर दिग्माधन मान हृति फडत बैन अनि दीम ॥  
 या दिन लौ जांचेता नवदि करो न पहुँ विचार ।  
 शुक्ल मृत फज्ज फज्ज पूर्ण अव तु जानु थागार ॥  
 प्रातरान रविकिरण सम कोमल लाले पान ।  
 कर शरणा अह चलु नहीं गर्दी प्रल दूरसाव ॥  
 शनि रथाकुत्त अविरेच नै जे नर निय प्रमात ।  
 तिनाहर कवर्ति नामहि शूक्लि न उत्त सुनाव ॥  
 भ्रतिहन अति धन पद्मगनि द्याये सरवयवृन्द ।  
 छारचुन फज सव काल मैं देत लेत आनंद ॥  
 शाम राम गरिता निकट नधुर मुशीतल घारि ।  
 येकि शृङ्खल कोमल नवदि कोजै मेज मैंबारि ॥  
 तज नोच बन धन हिति जाय धर्मीन दुवार ।  
 भोगत यह संताप अह सहत गलेम घपार ॥  
 हृत्त शिला विस्तीर्ण रित शश्या सुन्दर घनाय ।  
 धरत ध्यान तथ युद्धचित कानन काम नमाय ॥  
 अपनो-अपनो कर गये जे दिन र्मगत घात ।  
 हैमि आवत तथ सुमिरि तिन समल गात पुलकात ॥  
 योगीश्वर मिल योगवल समदर्शी सव काल ।  
 चिद्रानंद चिंतन अतुर परत न मायाजाल ॥  
 जिन नन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महै पूरि ।  
 तिन घरणन की रेणुका मेरी जीवन-मूरि ॥

कंथादिक शे नादिरान कोर्ही भहै विनाश  
 पी गिरिवर निरमल भये कोर्ही अनल प्रकाश ॥  
 दुम शाम्या रमयुक्त मृदु एत शम यदरल दानि ।  
 दृष्टि आह धरणी रमी समुद्रल लागत ग्लानि ॥  
 जानि यगास्तिपति इन र्घु नर युग नयम पिर्हान ।  
 उदर दिग्पापन मान हृति फडत यैन अति दीन ॥  
 या दिन लीं जाँचो नयदि कहो न एहू विचार ।  
 युक्ति भूत कज्ज फूज्ज पी धव त् जानु थगार ॥  
 प्रातरान रविकिरण सम कोमल लाले पान ।  
 कर शरणा अह चलु नहीं प्रहीं प्रल ढरवान ॥  
 अति रथाकुल अधिरेष नै जे नर निरय प्रमात ।  
 तिनकर कव्रहै नामहै भूजि न दहै सुनात ॥  
 प्रतिदन अति धन पद्मवलि दाये तरव्यवृन्द ।  
 हाँचहृत फल सब काळ में देत लेन आनंद ॥  
 डाम राम सरिता निश्चट नभुर सुर्खातल चारि ।  
 बेंकि मृदुल कोमल नवर कोजे मेज सैंवारि ॥  
 तउ नाच जन धन हिर्त जाय धनीन दुवार ।  
 भोगत यह संताप अह सहत फलेम अपार ॥  
 शेज शिला विस्तीर्ण रित शरणा सुखद बनाय ।  
 धरत ध्यान तप युद्धचित कानन काम नमाय ॥  
 अपनो-अपनो कर गये जे दिन मींगत चात ।  
 हैमि आवत तप सुमिरि तिन सरल गात पुलकात ॥  
 योगीधर निज योगवल समदरणीं सब काल ।  
 चिदानंद चिंतन चतुर परत न मायाजाल ॥  
 जिन तन मन धरपन कियो रहे ज्ञान महै पूरि ।  
 तिन घरणन की रेणुका मेरी जीवन-मूरि ॥

नहीं रह गया है। उन्होंने ब्रजभाषा को छोड़कर सभी वोली में कविता करना आरंभ कर दिया। खड़ी वोली की उनकी पहली कविता 'बलीवर्द' नाम की है। यह १५ अक्टूबर जन १८०७ में 'श्रीविक्रमदत्तगान्धारमें' लिखी थी। नव वे नौमी में जौ० आई० पो० रेलवे के दक्षि० में लग करने थे। उनकी रचनायें 'भारत-मिश्र', 'दिल्ली-बंगलामी' आदि तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। 'मरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होंने उसमें भी अपने को अपनी रचनायें भेजी। 'द्रौपदी-बचन-वाणी-बर्ली' ( किरणार्जुनीय के प्रथम सर्गान्तर्गत युधिष्ठिर से द्रौपदी को उन्हि० )-जीर्षक उनकी कविता 'समस्वती' ( नवम्बर १८०९ ) में लिखी थी। इसके तगभग तीन वर्ष पहले ( १८ दिसंबर जन १८४६ में ) उन्होंने 'शीघ्र-सप्तक' नामक कविता लिखी थी, जिसमें पाठक जी को कोमल-कांत-पदावली, भाषा की नकाराई, उक्तियों की सुन्दरतथा मार्मिक व्यंजना और काव्य-माधुर्य पर मुख्य होकर द्विवेदी जी ने उन्हें गीतगोविंद के रचयिता 'नवदेव' का अवतार और खड़ी वोली के आधुनिक प्रगति-युग का आद्याचार्य माना था। इस 'सप्तक' में हमें द्विवेदी जी की मनोवृत्ति का भी पना लग जाता है; क्योंकि खड़ी वोली की दीन-हीन दृश्य का चित्र मौजूद हुए। उन्होंने पाठक जी में इस कलंक का धोने की प्रार्थना की थी।

'मरस्वती' के मंपादक होने के बाद उन्होंने स्वयं इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और अन्य कवियों को भी खड़ी वोली में ही कविता करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उनकी कुटकर कविताओं का पहला संग्रह 'काव्य-मंजूषा' के नाम से १८०३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें मन् १८४५ से १८०२ तक की ३३ रचनायें—१६ ब्रजभाषा की, ८ संस्कृत की और ६ खड़ी

नहीं रह गया है। अनन्तः उन्होंने ब्रजभाषा को छोड़ फर सभी बोली में कविता करना आरंग कर दिया। खड़ी बोली की उनकी पहली कविता 'बलीयद' नाम की है। यह १९ आकटोबर नन् १९०० में 'श्रीवेङ्कटेश्वर-गगानार' में छोड़ी थी। नव वेस्टर्नों में जी० आई० पी० रेलवे के दफ्तर में काम करने थे। उनकी रचनायें 'भारत-मित्र', 'हिंदौ-बंगवासी' आदि तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। 'मरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होंने उसमें भी अपने को अपनी रचनायें भेजी। 'ट्रॉपर्टी-वचन-वाण-बली' ( फिरातार्जुनीय के प्रथम सर्गान्तर्गत युधिष्ठिर से द्वीपड़ी को उकि )-शीर्षक उनकी कविता 'सरस्वती' ( नवम्बर १९०० ) में छोड़ी थी। इसके तगभग तीन वर्ष पहले ( १९ दिसंबर नन् १९६६ में ) उन्होंने 'रीभर-सप्तक' नामक कविता लिखी थी, जिसमें पाठक जी की कोगल-कांत-पदावली, भाषा की नकाई, उक्तियों की सुन्दर तथा मार्मिक व्यंजना और काव्य-माधुर्य पर मुग्ध होकर छिपेदी जी ने उन्हें गीतगोविंद के रचयिता 'त्रयदेव' का अवतार और खड़ी बोली के आधुनिक प्रगति-युग का आद्याचार्य माना था। इस 'सप्तक' में हमें द्विवेदी जी की मनोवृत्ति का भी पता लग जाता है; क्योंकि खड़ी बोली की दीन-हीन दृश्य का चित्र स्वीचते हुए उन्होंने पाठक जी में इस कलंक का धोने की प्रार्थना की थी।

'मरस्वती' के संपादक होने के बाद उन्होंने स्वयं इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और अन्य कवियों को भी खड़ी बोली में ही कविता करने के लिए ग्रोत्साहन दिया। उनकी फुटकर कविताओं का पहला संग्रह 'काव्य-मंजूषा' के नाम से १९०३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें मन् १९६५ से १९०२ तक की ३३ रचनायें—१६ ब्रजभाषा की, ८ संस्कृत की और ६ खड़ी

ये देवतान् दाता न गोप  
गिरामितं गुरुं पूर्वुमितं  
पापं तु यद्यितः । विश्वुं द  
स्त्रियि विश्वामितः उपर्युः

—विश्वामितः

स्वर्गीय पंचित पश्चामित् शर्वा की भूत्युं रं उपरा लक्ष्मी २९  
जुलाई, सन् १९३३ तो उन्होंने दो श्लोक लिखे हैं। वे शास्त्र  
दस्त्र के 'विश्वामित्-पाप' के 'विश्वामित्-प्रदा' के दूसरे पर  
प्रकाशित हुए हैं। श्लोक इन प्रकार हैं—

याते द्विव गति सूर्य राति वं  
नद्विव वा र्विव राति वं रव्ये ।

क्षादं भवाद्यगद्यन्तं भवितव्यं  
प्राप्ते द्वेष विधिवा यहुद्वितीय ॥

अ.                    अ.                    अ.                    X

संस्कृत तेऽथ गद्यन्त वथाक्षापे  
सर्वं वद्यमि तद्यन्तं शतधा प्रयाति ।  
शार्नम्य निर्गत्यन्तेभ्य द्वादशान्त्ये  
ध्यावद्विधी गद्यन्तेभ्य विनिश्चित्तोमि ॥

एक पत्र पर श्लोक में दी हुई उनकी सम्मति इन प्रकार है—

सुरेश्वरः श्रीभगवानगन्तः सुरेश्विन्द्रिय गगरतनोमु ।

यस्य प्रसादादप्रस्तौयभूय पत्रं प्रशन्तं च कुमारनाम ।

द्विवेदी जी की उक्त कवितायें किस कोटि की हैं, हिंदी-  
साहित्य में उनको कोई स्थान दिया जा सकता है या नहीं,  
दूसरों के विचार उनकी कविता के संबंध में क्या रहे हैं, आदि  
की विवेचना करने के पहले हम विषय, भाषा और छंद-विषयक

ऐसा ही विषय द्विवेदी जी को पसंद था और उसी प्रकार के भावों को व्यक्त करनेवाले वायू मैथिलीशरण गुप्त का पे आदर करते थे। उनकी 'भारत-भारती' का उन्होंने हृदय से अभिनन्दन किया था। साथ ही समाज में प्रचलित अन्य कुर्तिजियों का चित्र खीचकर उन्हें दूर कराने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। ऐसी कविताओं के लिए व्यंग्य की आवश्यकता होती है। इसका एक उदाहरण यहाँ हम देते हैं। कान्त्यकुञ्ज ब्राह्मणों का प्रकृति 'कनौजिया सम्मेलन' सन् १६०५ में होली के दिनों में हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने ठहरौनी की निंदा करते हुए एक मजाक किया था—

झरा देर के लिए समझिए थाप पोडशी कँसी हैं,  
जमा कीनिए असभ्यता यह, हम आमीण अनारी हैं।  
मान लीनिए, नेत्र थापलं कर्नों तक रढ़ आये हैं,  
पीन पयोधर देख थापके कुंबर कुंभ लजाये हैं।

साहित्य-क्षेत्र में धौंधली मचानेवाले ग्रंथकारों की खबर लेने के लिए उन्होंने 'ग्रंथकार-लक्षण' शीर्षक एक कविता लिखी थी, जो 'सरस्वती' (भा० २, सं० ८) में छपी थी। इसका कुछ अंश यों है—

हृधर-उधर से जोड़ बटोर  
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

'विधि-विडंबना' शीर्षक कविता में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।  
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार॥

ऐसा ही विषय द्विवेदी जी को पसंद था और उसी प्रकार के भावों को व्यक्त करनेवाले वायू मैथिलीशरण गुप्त का ये आदर करते थे। उनकी 'भारत-भारती' का उन्होंने हृदय से अभिनन्दन किया था। साथ ही समाज में प्रचलित अन्य कुरीतियों का चिन्ह खींचकर उन्हें दूर कराने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। ऐसी कविताओं के लिए व्यंग्य की आवश्यकता होती है। इसका एक उदाहरण यहाँ हम देते हैं। कान्यकुञ्ज ब्राह्मणों का एक 'कनौजिया सम्मेलन' सन् १६०५ में होती के दिनों में हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने ठहरौनी की निंदा करते हुए एक मजाक किया था—

झरा देर के लिए समझिए आप पोडशी काँरी हैं,  
ज़मा कीजिए असभ्यता यह, हम ग्रामीण अनारी हैं।  
मान लीजिए, नेत्र आपके कानों तक रह आये हैं,  
पीन पयोधर देख आपके कुंजर कुंभ लजाये हैं।

साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले ग्रंथकारों की खबर लेने के लिए उन्होंने 'ग्रंथकार-लक्षण' शीर्षक एक कविता लिखी थी, जो 'सरस्वती' (भा० २, सं० ८) में छपी थी। इसका कुछ अंश यों है—

इधर-उधर से जोड़ बटोर  
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

'विधि-विडंबना'-शीर्षक कविता में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।  
जिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार॥

सुरन्दता ही जमरीन कांति है;  
अङ्गूष्ठ आत्मा रम है मणेहरे।  
शरीर तेरा सब शब्दभाव दै;  
नितांत निष्कर्ष वही, यही, यही।

ऊपर कहा गया है कि अर्णवमें द्विवेदी जी ब्रजभापा में कविता किया करते थे; बाद में उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। पर खड़ी बोली की उनकी ग्रारंभिक कविताओं से स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक जी तथा स्वर्गीय पंडित नाथुराम शंकर जी की रचनाओं में कहीं कहीं ब्रजभापा की पुट मिलती है। किसी सीमा तक यह स्वाभाविक भी था। द्विवेदी जी तब संस्कृत-कवियों का अध्ययन कर रहे थे। इसका भी उनके विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यहाँ उनकी उग्र समय की एक कविता उदाहरणार्थ दी जाती है। विषय पर संस्कृत-साहित्य के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। और भाषा—

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे।  
होते प्रकंप परिपूर्ण मनुष्य सारे।  
क्या वहि है ? विनिख है ? अहि है विपारी ?  
किंवा विशाल-तम-तोम द्वांगधारी ?  
पृथ्वी - रासुद्र - सरिता - नर - नाग - सृष्टि;  
मांगल्य - मूल - मय वारिद वारिवृष्टि।  
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु जाना—  
व्यापार - भार सहता - रहता महाना ?  
विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता;  
स्वष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?  
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता;  
तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खोता ?

सुख्यता ही जमनीन कर्ति है;  
अद्वल्य आत्म रस है मयोहरे।  
शरीर तेरा सब शब्दम् त्र है;  
नितांत निष्कर्ष यहीं यहीं यहीं।

ऊपर कहा गया है कि अरंभ से द्विवेदी जी ब्रजभापा में कविता किया करते थे; वाद में उन्होंने खड़ी दोली की अपना लिया। पर खड़ी दोली की उनकी प्रारंभिक कविताओं से स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक जी तथा स्वर्गीय पंडित नाथराम इंडर जी की रचनाओं में कहीं कहीं ब्रजभापा की पुट मिलती है। किसी सीमा तक यह स्वाभाविक भी था। द्विवेदी जी तब संस्कृत-कवियों का अध्ययन कर रहे थे। इसका भी उनके विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यहाँ उनकी उन समय की एक कविता उदाहरणार्थ दी जाती है। विपर्य पर संस्कृत-साहित्य के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। और भापा—

क्या वस्तु सृत्यु ? जिसके भय से विचारे।  
होते प्रकंप परिपूर्ण मनुष्य सारे।  
क्या वहि है ? विजित है ? अहि है विपारी ?  
किंवा विशाल-तम-नोम दृढ़गंधारी ?  
पृथ्वी - रामुद्र - सरिता - नर - नाग - सृष्टि;  
मांगल्य - मूल - मय - वारिद वारिवृष्टि।  
कर्तार कौन हनका ? किस हेतु नाना—  
व्यापार - भार सहता - रहता महाना ?  
विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता;  
स्थान समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?  
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता;  
तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खोता ?

तपोबली छुम्लों के ऊपर राह ब्याथे दो लाता है,  
मेरा तू प्रसोद सावड़ है, इसो कहाँ तू जाता है।

भाषा की शुद्धता के बाद भाषा की रामनुजा का प्रश्न उपस्थित हुआ। पहले लोग जड़ी बोली में कावया करनेवालों का ही विरोध करते थे। पर जब खड़ी धोली का रना<sup>१</sup> नहुने लगा और वहुतों ने ब्रजभाषा को छोड़कर दूसों में अधिकार करना शुरू कर दिया तब लोगों ने यह झराड़ा उनका किंविता की भाषा लरल हो या हिट। द्विवेदी जी के रायकालीन बहुतन्से विद्वान् किट भाषा के पक्षपाती थे। आरंभ जी द्विवेदी जी की कविताओं की भाषा भी किट ही है; इसके दोनों उदाहरण 'कविता-कलाप' में भी मिलते हैं। पर कालान्तर में वे सरल<sup>२</sup> भाषा के पक्षपाती हो गये। उनका कथन था कि हिंदी के अतिरिक्त सभी उन्नत भाषाओं में गद्य और पद, दोनों की भाषा एक ही है। अतः हमारा कर्तव्य भी यही है कि अन्य सभ्य समाजों की तरह जिस भाषा में गद्य लिखा जाता है उसी में कविता भी करें। दूसरा कारण यह भी था कि द्विवेदी जी हिंदी-भाषा को लरल बनाकर उसका प्रचार-प्रगति 'वढ़ाना चाहते थे। यहाँ 'कविता-कलाप' से उनकी बोलबाल की भाषा की कविता का एक नजूना दिया जाता है—

\* द्विवेदी ही, उनके मन में उस भमव विनियम वर्द्धस्वर्थ का यह पुराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि गद्य और पद का विन्यास एवं वी प्रकार का होना चाहिए। वर्द्धस्वर्थ अपने इस सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका, कालान्तर में उसका यह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हुआ—उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न किया जा सका। द्विवेदी जी ने भा वरावर उक्त मिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविता में अनुप्राप्त व कोमलकांतपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।—

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ की प्रस्तावना

तपोबली दुर्लभों के प्रिय रहने व्यर्थी हो जाता है,  
मेरा तू प्रसोद साक्षर है, इसी कहाँ तू जापा है।

भाषा की शुद्धता के बाद भाषा की रागतात् का प्रश्न उपस्थित हुआ। पहले लोग खड़ी बोली में कांवना करनेवालों का ही विरोध करते थे। पर चब खड़ी 'घोलो' का रुचार नहुने लगा और वहुतों ने ब्रजभाषा को छोड़कर दूसों ने कविता करना शुरू कर दिया तब लोगों ने यह अवाड़ा उनका कि कविता की भाषा सरल हो या क्लिप्ट। द्विवेदी जी के संस्कालीन बहुतसे विद्वान् क्लिप्ट भाषा के पक्षपाती थे। आरंभ द्वी द्विवेदी जी की कविताओं की भाषा भी क्लिप्ट ही है; इसके दो-एक उदाहरण 'कविता-कलाप' में भी मिलते हैं। पर कालान्तर में वे सरल\* भाषा के पक्षपाती हो गये। उनका कथन था कि हिंदी के अतिरिक्त सभी उन्नत भाषाओं में गव्व और पद, दोनों की भाषा एक ही है। अतः हमारा कर्तव्य भी यही है कि अन्य सभ्य समाजों की तरह जिस भाषा में गद्य लिखा जाता है उसी में कविता भी करें। दूसरा कारण यह भी था कि द्विवेदी जी हिंदी-भाषा को भरत बनाकर उसका प्रचार-प्रगतार बढ़ाना चाहते थे। यहाँ 'कविता-कलाप' से उनकी बोलबाल की भाषा की कविता का एक ननूना दिया जाता है—

\* हुनते हैं, उनके मन में उस भव्य विनियम वर्डस्वर्थ का यद उराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि गव्व और पद का विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए। वर्डस्वर्थ अपने इस सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका, कालान्तर में उसका यह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हुआ—उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न किया जा सका। द्विवेदी जी ने भी वरावर उक्त मिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविता में अनुप्रास व कोमलकांतपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।—

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ की प्रस्तावना

वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। पहले तो लोग द्विवेदी जी की वातों का विरोध करते रहे; पर अंत में उन्होंने उनका कहना मान लिया। यह वात उन्होंने स्वसम्पादित 'कविता-कलाप' को भूमिका में, २ फरवरी, १९०६ में लिखी है—

"किसी-किसी की राय है कि बोल-चाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती। ..... पर इस पुस्तक में अधिकांश कवितायें बोल-चाल की भाषा में हैं और उनमें शब्दों का अंग-भंग बहुत कम हुआ है। इस नये ढंग की कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नक़ज़ अधिकता से करने लगे हैं।"

द्विवेदी जी के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि वे ब्रजभाषा या अन्य भाषा की कविताओं का आदर नहीं करते थे। संस्कृत की कविता का तो उन्होंने अनुवाद किया ही है; ब्रजभाषा और उर्दू की कविता का भी वे आदर करते थे। इस कथन की पुष्टि उनके इस वाक्य से होती है—

"कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज भी हो चाहे उर्दू।"

— सरस्वती (१५-४-२२)

साहित्य-सेवा में पदार्पण करने के पहले, विद्यार्थी की हैसियत से, द्विवेदी जी कुछ दिनों तक वंवई की ओर रहे थे। वहाँ उनका परिचय मराठी-भाषा से हुआ था। उन्होंने उसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। इस भाषा के साहित्य से वे बड़े प्रभावित हुए। मराठी-कविता में संस्कृत के छंदों का अधिकतर व्यवहार होता है। द्विवेदी जी संस्कृत के पिंगार्थी थे और उसके कवियों की सरस और मनोहर उक्तियों का आनंद ले

वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। पहले तो लोग द्विवेदी जी की वातों का विरोध करते रहे; पर अंत में उन्होंने उनका कहना मान लिया। यह वात उन्होंने स्वसम्पादित 'कविता-कलाप' को भूमिका में, २ फरवरी, १६०६ में लिखी है—

"किसी-किसी की राय है कि बोल-चाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती। ..... पर इस पुस्तक में अधिकांश कवितायें बोल-चाल की भाषा में हैं और उनमें शब्दों का थंग-भंग बहुत कम हुआ है। इस नये ढंग की कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नक्त अधिकता से करने लगे हैं।"

द्विवेदी जी के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि वे ब्रजभाषा या अन्य भाषा की कविताओं का आदर नहीं करते थे। संस्कृत की कविता का तो उन्होंने अनुवाद किया ही है; ब्रजभाषा और उर्दू की कविता का भी वे आदर करते थे। इस कथन की पुष्टि उनके इस वाक्य से होती है—

"कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज की हो चाहे उर्दू।"

—सरस्वती (१५-४-२२८)

साहित्य-सेवा में पदार्पण करने के पहले, विद्यार्थी की हैसियत से, द्विवेदी जी कुछ दिनों तक बंवई की ओर रहे थे। वहाँ उनका परिचय मराठी-भाषा से हुआ था। उन्होंने उसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। इस भाषा के साहित्य से वे बड़े प्रभावित हुए। मराठी-कविता में संस्कृत के छंदों का अधिकतर व्यवहार होता है। द्विवेदी जी संस्कृत के पिंगार्थी थे और उसके कवियों की सरस और मनोहर उक्तियों का आनंद ले

तक पहुँचाया जाय, जिससे हिन्दी का प्रचार-प्रसार वढ़े। संस्कृत-भाषा और हिंदू-संस्कृति के पक्षपाती थे थे ही। उनके इस आदर्श को दूसरों ने भी लमफा और बहुतों ने संस्कृत के बृतों को अपना लिया।

पर छिवेदी जी छंद को कविता की आत्मा नहीं मानते थे। उनका कथन था कि छंद कविता के लिए उसी प्रकार है, जैसा कामिनी का सौंदर्य बढ़ाने के लिए अलंकार। कुछ लोग कहा करते हैं कि विशेष छंदों का प्रयोग करने से ही कविता में माधुर्य रहता है। छिवेदी जी ऐसे कथन का भी विरोध करते थे। वे 'अमित्रावर' के भी पक्षपाती थे। संभव है, इसका कारण उनका संस्कृत का अध्ययन हो। इस बात को उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुमूदनदत्त के जीवनचरित में खीकार किया था। उन्होंने लिखा है—

"वय इस प्रकार के (अमित्रावर) छंद यैगजा में लिखे जा सकते हैं और यदी योग्यता से लिखे जा सकते हैं तब हिंदी में भी उनका लिखा जाना संभव है। लिपनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए।"

—सरस्वती (जुनाई-शास्त्र, १६०३)

प्राचीन दरबारी-आलोचना-प्रणाली के पक्षपाती कविता में शुभाशुभ गणों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। सुनते हैं, अशुभ गणों के कविता के आरंभ में आजाने से लेखक या उनके संवंधियों को बुरा फल भुगतना पड़ता है। जिनके ऐसे विचार हैं वे छंद में एक मात्रा के भी बड़े जाने पर हाय-जोवा-मचा देते हैं। इसका एक उदाहरण है—

पाद पीठ को शोभित करते  
हुए इन्द्र ने हृतने पर

तक पहुँचाया जाय, जिससे हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़े। संस्कृन-भाषा और हिंदू-संस्कृति के पक्षपाती वे थे ही। उनके इस आदर्श को दूसरों ने भी समझा और वहाँ ने संस्कृत के दूनों को अपना लिया।

पर छिवेदी जी छंद को कविता की आत्मा नहीं मानते थे। उनका कथन था कि छंद कविता के लिए उसी प्रकार है, जैसा कामिनी का सौंदर्य बढ़ाने के लिए अलंकार। कुछ लोग कहा करते हैं कि विशेष छंदों का प्रयोग करने से ही कविता में माधुर्य रहता है। छिवेदी जी ऐसे कथन का भी विरोध करते थे। वे 'अमित्राचार' के भी पक्षपाती थे। संभव है, इसका कारण उनका संस्कृत का अध्ययन हो। इस बात को उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के जीवनचरित में भीकार किया था। उन्होंने लिखा है—

“जब इस प्रकार के (अमित्राचार) छंद खँगड़ा में लिखे जा सकते हैं और वही योग्यता से लिखे जा सकते हैं तब हिंदी में भी उनका लिखा जाना संभव है। लिपनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए।”

—सुरस्वती (जुलाई-अगस्त, १९०३)

प्राचीन दरवारी-आलोचना-प्रणाली के पक्षपाती कविता में शुभाशुभ गणों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। सुनते हैं, अशुभ गणों के कविता के आरंभ में आजाने से लेखक या उनके संर्वधियों को बुरा फल भुगतना पड़ता है। जिनके ऐसे विचार हैं वे छंद में एक मात्रा के भी बड़ जाने पर हाय-तोवा-मचा देते हैं। इसका एक उदाहरण है—

पाद पीठ को शोभित करते  
हुए हन्द ने हतने पर

*Sanskrit in Hindi.* Above all it is certain and admitted by all connected with Hindi Literature that you have shown a path, quite new and better to the present generation of Hindi writers.

—Baij Nath Gyani Dutt

संस्कृत-कविता के प्रेमी संस्कृत-वृत्तों को हिंदी में प्रचलित होते देखकर घड़े प्रसन्न हुए। श्री राधाचरण गोस्यामी भी ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। वे वैजनाथ ज्ञानीदत्त जी से भी आगे चढ़ गये। अपने पत्र के साथ, द्विवेदी जी की प्रशंसा में, उन्होंने कई छंद लिखकर भेजे थे। उस पत्र में उन्होंने द्विवेदी जी से निवेदन करते हुए लिखा—

“आपकी सहदयता, मर्मज्ञता, काव्यरसिकता ने मुझे आपकी स्तुति करने को प्रोत्साहित किया और विशेषतः आप वसन्ततिलका छंदों में जो कविता-रचना करते हैं, वहुत ही मधुर हैं। पर हसका आस्वादन बहुत थोड़ा मिला। कुछ विशेष कविता इन्हीं छंदों में कोजिए सो बड़ा सुख हो।

१

अहो महावीरप्रसाद भाई  
जो तैं नहै काल्यसुधा वहाई  
पीवें तज तृसि न नेक आई  
करें कहाँ लौं तुमरी वङ्गाई

२

मर्मज्ञ हो सहदयी रसिकायगणय  
हिंदीहितैषि जन तो सम नाहिं अन्य

*Sanskrit in Hindi.* Above all it is certain and admitted by all connected with Hindi Literature that you have shown a path, quite new and better to the present generation of Hindi writers.

—Baij Nath Gyani Dutt

संस्कृत-कविता के प्रेमी संस्कृत-वृत्तों को हिंदी में प्रचलित होते देखकर वड़े प्रसन्न हुए। श्री राधाचरण गोस्वामी भी ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। वे वैज्ञानिक ज्ञानीदत्त जी से भी आगे चढ़ गये। अपने पत्र के साथ, द्विवेदी जी की प्रशंसा में, उन्होंने कई छंद लिखकर भेजे थे। उन पत्र में उन्होंने द्विवेदी जी से निवेदन करते हुए लिखा—

“आपकी सहदयता, मर्मज्ञता, काव्यसिकता ने मुझे आपकी स्तुति करने को प्रोत्साहित किया और विशेषतः आप वसन्ततिलक छंदों में जो कवितारचना करते हैं, वहुत ही मधुर हैं। पर इसका आस्वादन बहुत थोड़ा मिला। कुछ विशेष कविता इन्हीं छंदों में कोजिए तो बढ़ा सुख हो।

१

थहो महावीरग्रसाद भाई  
जो तैं नई काव्यसुधा वहाई  
पीवें तऊ तृसि न नेक आई  
करै कहाँ लौं तुमरी वहाई

२

ममज्ञ हो सहृदयी रसिकाग्रगण्य  
हिंदीहितैपि जन तो सभ जाहिं अन्य

‘द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर आज से लगभग ६ वर्ष पहले यह लिखा गया था। लेख का कुछ अंश यों है—

“श्रीमान् द्विवेदी जी ने आजन्म सरस्वती की उपासना करके, प्रेमियों को सारस्वतपान कराकर ऐसा अपना लिया है कि “धसुधैव कुटुम्बकम्” होकर आप वैठ गये। आपने अनेक विषयों पर हृदयगम काव्य लिखे हैं। आपका वैशिष्ठ्य यह है कि पहले हिंदी के लिए जो छंद अपरिचित थे उर्थात्—शार्दूल विकीर्ति, साधरा, मालिनी, शिखरिणी आदि, इनमें भाषा काव्य लिखकर आपने छंदःशास्त्र की महिमा बढ़ाई है। आपकी कृति अत्यन्त सरल, सुगम व उद्योधक है। जरावस्या को उद्देश्य कर इस नरदेह का जो लक्षित वर्णन करके भगवदनुग्रह की आकांक्षा प्रदर्शित की है, वह आपका काव्य हिन्दी-गगन-मण्डल में प्रतिभासंपन्न है।”

— हंस, अभिनन्दनांक (अप्रैल १९३३, पृष्ठ १३)

इन तीनों अवतरणों से एक बात बड़े महत्त्व की ज्ञात होती है। वह यह कि तीनों ही लेखकों ने द्विवेदी जी को इसी कारण इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने संस्कृत के छंदों का हिंदी में प्रचार किया, जैसा उनके पहले प्रायः किसी ने नहीं किया था। इन लेखकों ने न तो उनके भावों की प्रशंसा की है और न भाषा की। वास्तव में १८६० से १९०० तक की उनकी रचनायें भाषा और भाव की हृषि से विशेष अनुकरणीय थीं भी नहीं। उनका उद्देश्य और लक्ष्य भी निश्चित नहीं था। इसी से इस विषय के संबंध में स्वयं वैजनाथ जी ने अपने उपर्युक्त पत्र में लिखा है—

But to make your influence felt deeply it is necessary that you should lay the G...dalation

‘द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर आज से लगभग ६ वर्ष पहले यह लिखा गया था। लेख का कुछ अंश यों है—

“श्रीमान् द्विवेदी जी ने आजन्म सरस्वती की उपासना करके, प्रेमियों को सारस्वतपान कराकर ऐसा अपना लिया है कि “बसुधैव कुटुम्बकम्” होकर आप बैठ गये। आपने अनेक विषयों पर हृदयगम काव्य लिखे हैं। आपका वैशिष्ट्य यह है कि पहले हिंदी के लिए जो छंद अपरिचित थे अर्थात्—शार्दूल विक्रीदित, सांधरा, मालिनी, शिखरिणी आदि, इनमें भाषा काव्य लिखकर आपने छंदःशास्त्र की महिमा बढ़ाई है। आपकी कृति अत्यन्त सरल, सुगम व उद्योधक है। जरावस्था को उद्देश्य कर इस नरदेह का जो ललित वर्णन करके भगवदनुग्रह की आकांक्षा प्रदर्शित की है, वह आपका काव्य हिन्दी-गगन-मण्डल में प्रतिभासंपन्न है।”

— हंस, अभिनन्दनांक (अप्रैल १९३३, पृष्ठ १३)

इन तीनों अवतरणों से एक बात बड़े महत्त्व की ज्ञात होती है। वह यह कि तीनों ही लेखकों ने द्विवेदी जीं को इसी कारण इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने संस्कृत के छंदों का हिंदी में प्रचार किया, जैसा उनके पहले प्रायः किसी ने नहीं किया था। इन लेखकों ने न तो उनके भावों की प्रशंसा की है और न भाषा की। वास्तव में १८६० से १९०० तक की उनकी रचनायें भाषा और भाव की हृषि से विशेष अनुकरणीय थीं भी नहीं। उनका उद्देश्य और लक्ष्य भी निश्चित नहीं था। इसी से इस विषय के संबंध में स्वयं वैजनाथ जी ने अपने उपर्युक्त पत्र में लिखा है—

But to make your influence felt deeply it is necessary that you should lay the G...dalation

में सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह है। द्विवेदी जी में कल्पना की विशेष उड़ान तो नहीं थी, पर सुधार करने की सात्त्विक भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि अवसर पाने पर वे अपने को रोक ही न पाते थे; उनका स्वभाव ही ऐसा था। वे चाहते थे कि जितने भी व्यक्तियों का उनसे संबंध है उनमें किसी प्रकार का भी अवगुण न रह जाय। ‘सरस्वती’ के संपादक, हिंदी-भाषा-भाषी और अंत में भारतीय होने के नाते उनका संबंध भारत के निवासियों तक ही सीमित नहीं था और वे सभी के अपना संदेश सुनाना चाहते थे। यहाँ तक कि उनके प्रायः प्रत्येक परिच्छेद में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य निहित है और कविता के लिए तो प्रायः वे विषय ही ऐसा चुनते थे जिसमें उन्हें खूब उपदेश देने का अवसर प्राप्त हो सके। यही कारण है कि उनकी कवितायें काव्य-कला की कसौटी पर कसे जाने पर खरी न उतरीं। उनमें अंतरंग की शोभा की अपेक्षा भाव-विन्याम का चमत्कार ही अधिक है। ‘वे उपदेशप्रधान हैं, वस्तु की व्यंजना करती हैं। अंतर के तारों को भनकारती नहीं, बाहर ही ठक-ठक करके चुप हो जाती हैं।’ उनमें हृदय-स्पर्श करने की विशेष ज्ञमता नहीं। यों हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला, द्विवेदी जी की उपदेशात्मक कथानकप्रियता। उनकी कविता में भारतेदु हरिश्चंद्र की-सी कल्पना की कमनीय शक्ति के दर्शन नहीं होते। बातव में घटना का सूत्र ऐसे कवियों के लिए अत्यंत आवश्यक है जो अन्य कार्यों में संलग्न रहकर कविता के लिए भी समय निकालना चाहता है। कथानक की रोचकता ही उसकी कविता का आकर्षण रहता है। फिर मुक्तक की प्रणाली

में सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह है। द्विवेदी जी में कल्पना की विशेष उड़ान तो नहीं थी, पर सुधार करने की सात्त्विक भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि अवसर पाने पर वे अपने को रोक ही न पाते थे; उनका स्वभाव ही ऐसा था। वे चाहते थे कि जितने भी व्यक्तियों का उनसे संवंध है उनमें किसी प्रकार का भी अवगुण न रह जाय। 'सरस्वती' के संपादक, हिंदी-भाषा-भाषी और अंत में भारतीय होने के नाते उनका संवंध भारत के निवासियों तक ही सीमित नहीं था और वे सभी को अपना संदेश सुनाना चाहते थे। यहाँ तक कि उनके प्रायः प्रत्येक परिच्छेद में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य निहित है और कविता के लिए तो प्रायः वे विपय ही ऐसा चुनते थे जिसमें उन्हें खूब उपदेश देने का अवसर प्राप्त हो सके। यही कारण है कि उनकी कवितायें काव्य-कला की कसौटी पर कसे जाने पर खरी न उतरीं। उनमें अंतरंग की शोभा की अपेक्षा भाव-विन्याम का चमत्कार ही अधिक है। 'वे उपदेशप्रधान हैं, वस्तु की व्यंजना करती हैं। अंतर के तारों को भनकारती नहीं, बाहर ही ठक-ठक करके चुप हो जाती हैं।' उनमें हृदय-स्पर्श करने की विशेष क्षमता नहीं। यों हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला, द्विवेदी जी की उपदेशात्मक कथानकप्रियता। उनकी कविता में भारतेंदु हरिश्चंद्र की-सी कल्पना की कमनीय शक्ति के दर्शन नहीं होते। बारतव में घटना का सूत्र ऐसे कवियों के लिए अत्यंत आवश्यक है जो अन्य कार्यों में संलग्न रहकर कविता के लिए भी समय निकालना चाहता है। कथानक की रोचकता ही उसकी कविता का आकर्षण रहता है। फिर मुक्तक की प्रणाली

उसमें काव्यकला का वास्तविक जीवन-संबंध के ही कहीं हैं”। अस्तु ।

इस विषय में द्विवेदी जी का वारतविक भहत्य यह है कि उनके “शुद्ध सान्त्विक आचार ने कविता के चेत्र को प्रभावित किया। इस चेत्र में उसकी मदमे दड़ी देन खड़ी बोली, भापा की सफाई और लंस्छुलवृत्तों का प्रवेश है और सबके पीछे है वह सान्त्विक प्रेरणा, जो उनके जीवन के मूल से उच्छृंखित होकर उनकी साहित्य-सेवा के कोने-कोने में फैल गई।” दूसरे शब्दों में उनके व्यक्तित्व ने अपने समय के प्रायः सभी कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ढाला। ‘मरस्वर्णा’ में जितनी कवितायें प्रकाशित होती थीं, उन पर द्विवेदी जी की लाप रपष्ट है। ‘कविता-कलाप’ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

“चित्र-कला और कविता का घनिष्ठ संबंध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है। दोनों का नाम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चिन्तित करना है। जिस वात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी वात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के अवधारण से आनंद होता है; चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है इसका निर्णय करना कठिन है; क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनंद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार के कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है। चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान ।”

पर विषय-संबंधी यह आदर्श और अंतःकरण के स्पर्श करनेवाली ज्ञमता द्विवेदी जी और उनके शिष्य-वर्ग की

उसमें काव्यकला का वास्तविक जीवन-संज्ञन का ही कहीं है”। अस्तु।

इस विषय में द्विवेदी जी का वारतविक भहत्त्व यह है कि उनके “शुद्ध सान्त्विक आचार ने कविता के चेत्र को प्रभावित किया। इस चेत्र में उनकी मद्दमे बड़ी देन खड़ी बोली, भाषा की सफाई और नंस्कुनवृत्तों का प्रवेश है और सबके पीछे है वह सान्त्विक प्रेरणा, जो उनके जीवन के मूल से उच्छृंखित होकर उनकी साहित्य-सेवा के कोने-कोने में फैल गई।” दूसरे शब्दों में उनके व्यक्तित्व ने अपने समय के प्रायः सभी कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाला। ‘मरस्वर्ना’ में जितनी कवितायें प्रकाशित होती थीं, उन पर द्विवेदी जी की छाप रपष्ट है। ‘कविता-कलाप’ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

“चित्र-कला और कविता का घनिष्ठ संबंध है। दोनों में एक प्रकार का अनेका सादृश्य है। दोनों का नाम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है। जिस वात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी वात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के शब्द से आनंद होता है; चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है इसका निर्णय करना कठिन है; क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनंद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार के कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा रपष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है। चित्र देखने से नेत्र वृत्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान।”

पर विषय-संबंधी यह आदर्श और अंतःकरण को सर्वशं  
करनेवाली ज्ञमता द्विवेदी जी और उनके शिष्य-बर्ग की

साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी ने मंत्र-पाठ-द्वारा देश के नवयुवक समुदाय को एक अत्यंत शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की।” आज जिन सत्कवियों के द्वारा हिंदी-साहित्य के काव्य के अंग की पूर्ति हो रही है और जिन पर हमें अभिमान है वे किसी समय द्विवेदी जी के शिष्य रह चुके हैं। दूसरे शब्दों में पंडित श्रीधर पाठक की लगाइ हुई जिस छोटी पौढ़ को सींचने और अनुप्राणित करने में उन्होंने लगन और साधना से योग दिया था वही उनके जीवन के उत्तरार्ध-काल में पल्लवित हो गई।

---

साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी ने मंत्र-पाठ-द्वारा देश के नवयुवक समुदाय को एक अत्यंत शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की।” ओज जिन सत्कवियों के द्वारा हिंदी-साहित्य के काव्य के अंग की पूर्ति हो रही है और जिन पर हमें अभिमान है वे किसी समय द्विवेदी जी के शिष्य रह चुके हैं। दूसरे शब्दों में पंडित श्रीधर पाठक की लगाई हुई जिस छोटी पौद को सींचने और अनुप्राणित करने में उन्होंने लगन और साधना से योग दिया था वही उनके जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में पल्लवित हो गई।

---

ओर ध्यान नहीं देते और न उसके भावों को समझने की ही चेष्टा करते हैं। भाषा की क्षिप्रता और दुख्हता से, वास्तव में, लेखक की विद्वत्ता भी प्रकट नहीं होती। वास्तविक विद्वत्ता तो जन-साधारण को अपने विचारों से परिचित करा सकते में, अपना संदेश सभी तक पहुँचः सकते में, है। क्या कालिदास और तुलसीदास ऐसी रचना नहीं कर सकते थे जिसको बड़े-बड़े विद्वान् भी न समझ पाते ? पर उन्होंने वैसा नहीं किया, अपनी सरल और सरस रचना के लिए ही वे आज विश्व में प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी जी भी इसी मिद्धांत के पक्षपाती थे। उनके प्रादुर्भाव के समय खड़ी बोली के तीन रूप मिलते थे। पहला भाषा का संस्कृतमय रूप जिसके जन्मदाता राजा लक्ष्मणसिंह समझे जाते थे। दूसरा हिंदी का वह रूप जिसमें अरवी-फारसी के शब्दों का बहुल्य था और राजा शिवप्रसाद जिसके पक्षपाती थे। हिंदी के इस रूप का प्रचार मुसलमानों में तो था ही, हिंदुओं को भी इसे ग्रहण करना पड़ा था। तीसरे रूप के प्रदर्शक भारतेंदु वावू हरिश्चंद्र थे। उनके हृदय में देश-प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो रहा था, वे भारत की स्वतंत्रता के लिए स्वयं अनवरत परिश्रम करते थे और चाहते थे कि सभी भारतवासी इसे अपना कर्तव्य समझें। अपना यह संदेश दूसरों तक पहुँचाने के लिए उन्हें हिंदी के उस रूप का प्रचार करना पड़ा जिसे जन-साधारण सरलता से समझ सके। इसलिए उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार भावों को स्पष्ट करने के लिए ही शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द संस्कृत के भी होते थे और अरवी-फारसी के भी—कुछ अँगरेजी शब्दों का प्रयोग भी होने लगा था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा यही थी।

ओर ध्यान नहीं देते और न उसके भावों को समझने की ही चेष्टा करते हैं। भाषा की क्षिप्रता और दुरुहता से, वास्तव में, लेखक की विद्वत्ता भी प्रकट नहीं होती। वास्तविक विद्वत्ता तो जन-साधारण को अपने विचारों से परिचित करा सकने में, अपना संदेश सभी तक पहुँचा सकने में, है। क्या कालिदास और तुलसीदास ऐसी रचना नहीं कर सकते थे जिसको बड़े-बड़े विद्वान् भी न समझ पाते? पर उन्होंने वैसा नहीं किया, अपनी सरल और सरस रचना के लिए ही वे आज विश्व में प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी जो भी इसी सिद्धांत के पक्षपाती थे। उनके प्रादुर्भाव के समय खड़ी घोली के तीन रूप मिलते थे। पहला भाषा का संस्कृतमय रूप जिसके जन्मदाता राजा लक्ष्मणसिंह समझे जाते थे। दूसरा हिंदी का वह रूप जिसमें अरवी-फारसी के शब्दों का बहुल्य था और राजा शिवप्रसाद जिसके पक्षपाती थे। हिंदी के इस रूप का प्रचार मुसलमानों में तो था ही, हिंदुओं को भी इसे ग्रहण करना पड़ा था। तीसरे रूप के प्रदर्शक भारतेंदु वावू हरिश्चंद्र थे। उनके हृदय में देश-प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो रहा था, वे भारत की स्वतंत्रता के लिए स्वयं अनवरत परिश्रम करते थे और चाहते थे कि सभी भारतवासी इसे अपना कर्तव्य समझें। अपना यह संदेश दूसरों तक पहुँचाने के लिए उन्हें हिंदी के उस रूप का प्रचार करना पड़ा जिसे जन-साधारण सरलता से समझ सके। इसलिए उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार भावों को स्पष्ट करने के लिए ही शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द संस्कृत के भी होते थे और अरवी-फारसी के भी—कुछ अँगरेजी शब्दों का प्रयोग भी होने लगा था। सर्वसाधारण की घोलचाल की भाषा यही थी।

में प्रचलित भाषा को अपनाकर अपना संदेश भारत के वज्जे-वज्जे तक पहुँचा देना चाहा। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया; पर वहुतों ने इसे अपनाया भी। द्विवेदी जी भी ऐसे ही लोगों में थे। वे सरल से सरल भापा लिखने के पक्ष में थे—न संस्कृत शब्दों का विरोध या वहिकार करते थे, न अरवी-फारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों को अपना लेना ही हिंदी-भापा-भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों, चाहे अरवी-फारसी या अङ्गरेजी के। इसी से उनकी भापा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द-जाल है और न उर्दू-लेखकों की भापा की कलावाजियाँ या चुलबुलाहट। इनकी भापा में सर्वावता है और स्वाभाविकता भी, जिसको पढ़ कर और समझकर पाठक मुदित हो जाता है। उनकी भापा के इस गुण पर वहुत से लोग लंदूदू थे, और हैं भी। अक्टूबर सन् १९३४ के 'विशाल-भारत' में उसके संपादक पंडित वनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके एक पत्र को अपने नोट के साथ प्रकाशित किया था। यह पत्र उनके स्वभाव का द्योतक तो है ही, साथ ही, उनकी भापा का भी नमूना है। पत्र चतुर्वेदी जी को ही लिखा गया था जो इस प्रकार है—

दौलतपुर (रायबरेली)

१४-५-३४

"नमस्कार,

११ मई का कार्ड मिला। यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि आपके वर्मा जी मेरे पुराने मेहरवान बाबू कृष्णदास जी के भतीजे हैं।

में प्रचलित भाषा को अपनाकर अपना संदेश भारत के बच्चे-बच्चे तक पहुँचा देना चाहा। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया; पर वहुतों ने इसे अपनाया भी। द्विवेदी जी भी ऐसे ही लोगों में थे। वे सरल से सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे—न संस्कृत शब्दों का विरोध या वहिष्कार करते थे, न अरवी-फारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों को अपना लेना ही हिंदी-भाषा-भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों, चाहे अरवी-फारसी या अँगरेजी के। इसी से उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द-जाल है और न उर्दू-लेखकों की भाषा की कलावाज़ियाँ या चुलचुलाहट। इनकी भाषा में सजीवता है और स्वाभाविकता भी, जिसको पढ़ कर और समझकर पाठक मुद्रित हो जाता है। उनकी भाषा के इस गुण पर बहुत से लेख लट्टू थे, और हैं भी। अक्टूबर सन् १९३४ के 'विशाल-भारत' में उसके संपादक पंडित वनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके एक पत्र को अपने नोट के साथ प्रकाशित किया था। यह पत्र उनके स्वभाव का द्योतक तो है ही, साथ ही, उनकी भाषा का भी नमूना है। पत्र चतुर्वेदी जी को ही लिखा गया था जो इस प्रकार है—

दौलतपुर (रायबरेली)

१४-५-३४

"नमस्कार,

१३ मई का कार्ड मिला। यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि आपके वर्मा जी मेरे पुराने सेहरवान बाबू कृष्णदास जी के भतीजे हैं।

वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर', 'श्रेष्ठतम्' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकबत्ती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते<sup>३</sup>। यदि द्विवेदी जी पर उर्दू शब्दों को ग्रहण करने का दोष लगाया जाता था तो भी वे शांत रह कर ही दोपारोपण करनेवालों को समझाया करते थे। यह बात लगभग २० वर्ष पहले उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, को एक पत्र में लिखी थी। पत्र यों है—

डाकखाना दौलतपुर (रायवरेली)

१५-३-१८

"महाशय,

पत्र मिला; धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार वर्तवा भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख, इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे। कहते थे कि यह हिंदी को विगाड़ रहा है। पर आप नहीं चोजते। और लोग भी 'परस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय  
म० प्र० द्विवेदी<sup>४</sup>

\* द्वि० अ० य०—प्रस्तावना।

वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर' • 'श्रेष्ठतम्' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकती नासा' उन्हें नहीं सुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते<sup>३</sup>। यदि द्विवेदी जी पर उद्दृश्यदों को प्रहण करने का दोष लगाया जाता था तो भी वे शांत रह कर ही दोपारोपण करनेवालों को समझाया करते थे। यह बात लगभग २० वर्ष पहले उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, को एक पत्र में लिखी थी। पत्र यों है—

डाकखाना दौलतपुर (रायवरेली)

१५-३-१८

"महाशय,

पत्र मिला; धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार वर्तवि भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उदूँ भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख, इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग जिखा करते थे। कहते थे कि यह हिंदी को विगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी 'परस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय  
म० प्र० द्विवेदी"

<sup>३</sup> द्वि० प्र० य०—प्रस्तावना।

अन्य किसी राष्ट्रीय भाषण से प्रभावित होकर उसे नहीं अद्दण किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या भारतीयता के विरुद्ध थे; उनका पुनीत उद्देश्य यह था कि यदि भाषा को सरल बना दिया जायगा तो जनता—केवल साधारण हिंदी जाननेवाली भी—यह जान सकेगी कि आज संसार में क्या हो रहा है; उसका ज्ञान दढ़ेगा। उनका विश्वास था कि भाषा का मुख्य उद्देश्य यही है कि जन साधारण उसे समझ कर कुछ ज्ञानार्जन करे। ‘सरस्वती’ में (भाग १६, संख्या १ पृ० ५१) उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

“हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज हो में समझ जायें। संस्कृत और अङ्गरेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो पर उससे ज्ञान आनंदज्ञान का उद्देश अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।”

सन् १९२८ के अक्टूबर की ‘सरस्वती’ में ‘भारतीय भाषाओं का अन्वेषण’ शीर्षक द्विवेदी जी का एक नोट प्रकाशित हुआ था। डॉक्टर ग्रियर्सन साहब ने (Sir George Abraham Grierson, K. C. I. E., Ph. D., D. Litt., L. L. D., I. C. S.—Retired—) भारत की भाषाओं और वोलियों के विषय में अन्वेषण करके १३ भागों में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसी के विषय में द्विवेदी जी का यह नोट था। ग्रियर्सन साहब ने भारतीय भाषाओं की संख्या १७६ और वोलियों की संख्या ५४४ बताई। द्विवेदी जी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा; पर उन्होंने इसका दुःख अवश्य हुआ कि हिंदी या हिंदुस्तानी के अचार-प्रसार पर ग्रियर्सन साहब ने जानते हुए भी कुछ नहीं लिखा। अतः उन्होंने यह नोट दिया—

अन्य किसी राष्ट्रीय भाषण से प्रभावित होकर उसे नहीं प्रहण किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या भारतीयता के विरुद्ध थे; उनका पुनीत उद्देश्य यह था कि यदि भाषा को सरल बना दिया जायगा तो जनता—केवल साधारण हिंदी जाननेवाली भी—यह जान सकेगी कि आज संसार में क्या हो रहा है; उसका ज्ञान दड़ेगा। उनका विश्वास था कि भाषा का मुख्य उद्देश्य यही है कि जन साधारण उसे समझ कर कुछ ज्ञानार्जन करे। ‘सरस्वती’ में (भाग १६, संख्या १ पृ० ५१) उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

‘हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज हो में समझ जायें। संस्कृत और अङ्गरेजी शब्दों से लदा हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही श्रकट हो पर उससे ज्ञान आनंदज्ञान का उद्देश अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।’

सन् १९२८ के अक्टूबर की ‘सरस्वती’ में ‘भारतीय भाषाओं का अन्वेषण’ शीर्षक द्विवेदी जी का एक नोट प्रकाशित हुआ था। डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने (Sir George Abraham Grierson, K. C. I. E., Ph. D., D. Litt., L. L. D., I. C. S.—Retired—) भारत को भाषाओं और वोलियों के विषय में अन्वेषण करके १३ भागों में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसी के विषय में द्विवेदी जी का यह नोट था। ग्रियर्सन साहब ने भारतीय भाषाओं की संख्या १७८ और वोलियों की संख्या ५४४ बताई। द्विवेदी जी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा; पर उन्हें इसका दुःख अवश्य हुआ कि हिंदी या हिंदुस्तानी के प्रचार-प्रसार पर ग्रियर्सन साहब ने जानते हुए भी कुछ नहीं लिखा। अतः उन्होंने यह नोट दिया—

“जिस तरह शब्दों के पेयण और उद्यम के लिए नाम के साथ पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसे ही सजीव भाषाओं का वाड़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह दी जावनहमता होती है। जो भाषा ऐसा भर्ही करती या लिखते ऐसा होना चाह द्वारा जाता है, वह उपचास-सी करती रुह, किसी दिन मुर्दा नहीं सां निर्जीव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परिवर्त नहीं हो सकता।”

यहाँ तक वे परोक्ष रूप में—भूमिका के ढंग पर—अपने उद्देश्य से पाठकों को परिचित कराते रहे, पर फिर अपने को रोक न सके और मातृभाषा हिंदी के प्रेम के आवेश में कह चले—

“हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव में उसने अरबी-फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अँगरेजी भाषा के भी शब्द ग्रहण करनी जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी अपनी वृद्धि ही कर रही है, हाज़िर नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। इसे केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस संमिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।”

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिंदी की ग्राहिका-शक्ति के विषय में जनता का ध्यान आकर्पित करने और सरल भाषा

“जिस तरह शब्दों के प्रयोग और उद्यम के लिए वाहन के साथ पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं का वाहन के लिए विदेशी शब्दों और भावों के मध्यह वी आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा भी होती या जिसमें ऐसा होना चाहिए हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई, किसी दिन गुर्दा नहीं तो निर्जिव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परिवर्त नहीं हो सकता।”

यहाँ तक वे परोक्ष रूप में—भूमिका के ढंग पर—अपने उद्देश्य से पाठकों को परिप्रेक्षित करते रहे, पर फिर अपने को रोक न सके और मातृभाषा हिंदी के प्रेम के आयेश में कह चले—

“हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव में उसने अरबी-फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अँगरेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी ध्यानी वृद्धि ही कर रही है, हाँ नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। इसे केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस संमिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।”

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिंदी की ग्राहिका-शक्ति के विषय में जनता का ध्यान आकर्षित करने और सरल भाषा

प्रचार के लिए भी सभी सुदूर प्रांतों में लोग संलग्न हैं। हिंदी को राष्ट्रभाषा समझा जाने लगा है और प्रायः सभी इस बात को स्वीकार भी करने लगे हैं। इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय? हिंदी-भाषा के विशाल और विस्तृत साम्राज्य की नींव डालनेवाला इनके अतिरिक्त हम किसे कह सकते हैं?

---

अचार के लिए भी सभी सुदूर प्रांतों में लोग संलग्न हैं। हिंदी को राष्ट्रभाषा समझा जाने लगा है और प्रायः सभी इस बात को स्वीकार भी करने लगे हैं। इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय? हिंदी-भाषा के विशाल और विस्तृत साम्राज्य की नींव डालनेवाला इनके अतिरिक्त हम किसे कह सकते हैं?

---

हो सकती हैं; लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रिय विषय होता है और उसी के अनुसार उसकी एक निजी शैली रहती है। द्विवेदी जी इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं। वे संपादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्तिशास्त्र, शासन-पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अन्तर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ नवीन विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये, तब उनकी विभिन्न शैलियों का प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा प्रभाव उन पर उस समय नहीं पड़ सकता था जब पाञ्चात्य देशों की तरह यहाँ उन्हें केवल संपादकीय कार्य करना पड़ता। उन देशों में उक्त सभी विषय साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में इन विषयों के लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पर वहाँ प्रधान संपादक को ही सभी विषयों का मर्मज्ञ होने की आवश्यकता नहीं, उनकी सामान्य योग्यता ही अपेक्षित होती है और उसकी महायता के लिए, मुख्य-मुख्य विषयों के बाता अनेक उप-संपादक रहते हैं।

पर उपर्युक्त सभी विषय द्विवेदी जी के प्रिय विषय नहीं थे। उनका उद्देश्य और लक्ष्य हिंदी-भाषा का परिप्कार, उनका प्रचार और हिंदी-साहित्य की उन्नति करना रहा था। इसके लिए उनको आलोचना के प्रचलित ढंग का आश्रय लेना पड़ा था। यों उन्होंने एक विशिष्ट लेखनशैली—आलोचनात्मक—को जन्म दिया जो उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम ३ भेद कर सकते हैं—

(१) आदेशपूर्ण, (२) ओजपूर्ण, (३) भावपूर्ण।

हो सकती हैं; लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रिय विषय होता है और उसी के अनुसार उसकी एक निजी शैली रहती है। द्विवेदी जी इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं। वे संपादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्तिशास्त्र, शासन-पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अन्तर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ नवीन विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये, तब उनकी विभिन्न शैलियों का प्रचलित हो जाना कोई आश्र्य की बात नहीं है। ऐसा प्रभाव उन पर उस समय नहीं पड़ सकता था जब पाश्चात्य देशों की तरह यहाँ उन्हें केवल संपादकीय कार्य करना पड़ता। उन देशों में उक्त सभी विषय साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में इन विषयों के लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पर वहाँ प्रधान संपादक को ही सभी विषयों का मर्मज्ञ होने की आवश्यकता नहीं, उनकी सामान्य योग्यता ही अपेक्षित होती है और उसकी महायता के लिए, मुख्य-मुख्य विषयों के बाता अनेक उप-संपादक रहते हैं।

पर उपर्युक्त सभी विषय द्विवेदी जी के प्रिय विषय नहीं थे। उनका उद्देश्य और लद्य हिंदी-भाषा का परिष्कार, उसका प्रचार और हिंदी-साहित्य की उन्नति करना रहा था। इसके लिए उनको आलोचना के प्रचलित ढंग का आश्रय लेना पड़ा था। यों उन्होंने एक विशिष्ट लेखनशैली—आलोचनात्मक—को जन्म दिया जो उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम ३ भेद कर सकते हैं—

(१) आदेशपूर्ण, (२) ओजपूर्ण, (३) भावपूर्ण ।

“जो मनुष्य अपनी संतति के जोवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते अथवा जान वूँक कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुनरोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।”

—‘शिष्या’ भूसिका पृ० २

इन अवतरणों को यदि उचित ढंग से पढ़ा जाय तो सुनने प्रालों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। यही इस शैली की विशेषता है और यही इसका उद्देश्य।

### (३) भावपूर्ण

तीव्रा शैली भावपूर्ण है। भावावेश में सब्जे हृदयोद्गार इसी में प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार की शैली के जन्मदाता ठाकुर जगमोहनसिंह ये और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की इस प्रकार की शैली के दो छोटे-छोटे उदाहरण दिये जाते हैं। एक ‘पृथिवी-प्रदक्षिणा’-नामक पुस्तक की आलोचना से और दूसरा पंडित वालकृष्ण भट्ट के देहांत पर दिये हुए नोट से। दोनों सब्जे हृदयोद्गार के उदाहरण हैं—

“कूर-मण्डू भारत, तुम कव तक अन्यतार में पढ़े रहोगे ? प्रकाश में आने के निपु तुम्हे रे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती ? पञ्चहीन पहाँ की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का धाहन नहीं होता ? क्या तुम्हें अपने पुगने दिनों की कभी याद नहीं आती ?”

—सरस्वती (आस्त ३६१४)

“भट्ट जी, तुम्हारे शतीर-त्याग का समाचार सुनकर बड़ी  
फा० १२

“जो मनुष्य अपनी संतति के जोवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते अथवा जनन वृक्ष कर उप नरकध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।”

—‘शिष्या’ भूसिका पृ० २

इन अवतरणों को यदि उचित ढंग से पढ़ा जाय तो सुननेमालों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। यही इस शैली की विशेषता है और यही इसका उद्देश्य।

### (३) भावपूर्ण

तीसरा शैली भावपूर्ण है। भावावेश में मच्चे हृदयोदगार इसी में प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार की शैली के जन्मदाता ठाकुर जगमोहनसिंह थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की इस प्रकार की शैली के दो छोटे-छोटे उदाहरण दिये जाते हैं। एक ‘पृथिवी-प्रदक्षिणा’-नामक पुस्तक की आलोचना से और दूसरा पंडित वालकृष्ण भट्ट के देहांत पर दिये हुए नोट से। दोनों सबे हृदयोदगार के उदाहरण हैं—

“कृष्ण-मण्डू ह भारत, तुम कव तक अन्धकार में पड़े रहोगे ? प्रकाश में आते के जिए तुम्हे रे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती ? पञ्चहीन पहाँ की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का धाहर नहीं हाता ? क्या तुम्हें अपने पुगने दिनों की कभी याद नहीं आती ?”

—सरस्वती (आगस्त १९१४)

“भट्ट जी, तुम्हारे शतीरत्वाग का समाचार सुनकर बड़ी  
फा० १२

हरण देखिए। पहला उदाहरण 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा'-शीर्षक नोट से है। यह नोट बंगाल, मद्रास और बंबई के विश्वविद्यालयों में इतिहास, भूगोल और गणित आदि की शिक्षा शिक्षार्थियों की मातृभाषा में ही दिये जाने पर लिखा था—

'अच्छी बात है। युध लघण हैं। जागृति के चिद हैं। अंध-विश्वास का पट्टा हट रहा है। विवेकसूर्य की निरणे कैलने कर्मी हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अभिमानी और अङ्गरेजी-भाषा के ज्ञानी भी जप जागे हैं। अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने के लाभ उनकी समझ में आने लगे हैं।'

—सरस्वती (नवम्बर १९१६)

दूसरा उदाहरण एक पत्र का कुछ अंश है, जो द्विवेदी जी ने बाबू कालिदास जी कपूर को लिखा था। कपूर साहब उनके दर्शनार्थी कानपुर जाना चाहते थे। पत्र लिखकर अनुमति माँगी। उसी के उत्तर में द्विवेदी जी ने २० मई सन् १९१६ को लिखा—

'आहए। कृषा कीजिए। ३१ मई तक मैं यहाँ रहूँगा। शहर से ३ मील दूर जंगल में, मौज़ा जुहो कराँ के सामने रहता हूँ।'

आलोचनात्मक शैली के जिन तीन प्रकारों को ऊपर समझाने की चेष्टा की गई है उनमें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति आदि का चित्र है। बात यह है कि शैली के उक्त तीनों प्रकारों की आवश्यकता पिरोन अपसरों पर ही पड़ती है। लगभग २० वर्ष द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक रहे और अंत तक परिस्थिति में वहुन अविकृ परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास को 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियाँ नूहे न ने

हरण देखिए। पहला उदाहरण 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा'-शीर्षक नोट से है। यह नोट बंगाल, मद्रास और बंबई के विश्वविद्यालयों में इतिहास, भूगोल और गणित आदि की शिक्षा शिक्षार्थियों की मातृभाषा में ही दिये जाने पर लिखा था—

'अच्छी बात है। शुभ लक्षण हैं। जागृति के चिह्न हैं। अंध-विश्वास फा पट्टा हट रहा है। विवेकसूर्य की निरणे फैलने लगी हैं। पारचाल्य सम्मता के अभिमानी और अँगरेजी-भाषा के ज्ञानी भी थप जागे हैं। अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने के लाभ उनकी समझ में आने लगे हैं।'

—सरस्वती (नवम्बर १९१६)

दूसरा उदाहरण एक पत्र का कुछ अंश है, जो द्विवेदी जी ने बाबू कालिदास जी कपूर को लिखा था। कपूर साहब उनके दर्शनार्थ कानपुर जाना चाहते थे। पत्र लिखकर अनुमति माँगी। उसी के उत्तर में द्विवेदी जी ने २० मई सन् १९१६ को लिखा—

'आहए। कृषा कीजिए। ३१ मई तक मैं यहाँ रहूँगा। शहर से ३ मीज दूर जंगल में, मौज़ा जुहो कराँ के सामने रहता हूँ।'

आलोचनात्मक शैली के जिन तीन प्रकारों को ऊपर समझाने की चेष्टा की गई है उनमें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति आदि का चित्र है। बात यह है कि शैली के उक्त तीनों प्रकारों की आवश्यकता प्रियोग अप्रसरों पर ही पड़ती है। लगभग २० वर्ष द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक रहे और अंत तक परिस्थिति में वहाँ अधिक परिपूर्ण नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास को 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियां नूहे न ने

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से पृथक् नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिए उन्हें आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, उसी के लिए उन्होंने प्रायः व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही; साथ ही व्यंग्य का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिए—

“कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की वात है कि विदेशी लोग छूतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज कारसी और अँगरेजी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिह्निया का है? संस्कृत जानना तो दूर की वात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा-द्वेषियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इँग्लैण्डवाले यहाँ आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अँगरेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। वर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में, जहाँ गैस और विजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।”

उक्त अवतरण में हमें उनकी चुटीली ओज-पूर्ण आलोचना के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। इस मार्मिकता और

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से पृथक् नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिए उन्हें आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, उसी के लिए उन्होंने प्रायः व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही; साथ ही व्यंग्य का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिए—

“कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की वात है कि विदेशी लोग हृतना कष्ट उठाकर धौर हृतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज कारसी और अँगरेजी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिह्निया का है? संस्कृत जानना तो दूर की वात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो ज्ञाग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा-द्वेषियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर हँगलेंडवाले यहाँ आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अँगरेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में, जहाँ गैस और विजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।”

उक्त अवतरण में हमें उनकी चुटीली ओज-पूर्ण आलोचना के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। इस मार्मिकता और

my criticisms are “Vague, worthless and non-sense” (nonsensical ?). And, pray, what do you think of Lala Sita Ram’s Version of Kali Dasa ? Perhaps, most faithful, most worthy and most sensible ? Is it not ?

इस कथन में पहले दो वाक्यों में अधिक गहराई तो अवश्य है, पर चुटीलापन और मार्मिकता विशेष मात्रा में नहीं। लेकिन इसके बाद ही वे लिखते हैं—

Well, you are welcome to entertain that (कटा है) but this you should bear in mind, that the opinion of a person who does not even give his full name in his communication, who has never appeared in public print and whose career, as a literary man in Hindi has hitherto been unknown, can only be taken for it is worth, and no more.

चुटीले व्यंग्य का एक और नमूना देखिए। पंडित प्रभुदयाल मिश्र ने कालिदास के ‘मेघदूत’ का उर्दू में अनुवाद किया। उसमें वहुत से दोष थे। उन दोपों को देखाने के बाद द्विवेदी जी ने लिखा—

‘जो लेखक छः मात्राओंवाले चित्रकूट और पाँच मात्राओंवाले दामागीरी को ‘संस्कृत ज्ञान में व्यब्जन’ समझता है वह यदि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कविता का मर्म समझते बैठे तो उसके साहस की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उसकी योग्यता की नहीं।’

my criticisms are “Vague, worthless and non-sense” (nonsensical ?). And, pray, what do you think of Lala Sita Ram's Version of Kali Dasa ? Perhaps, most faithful, most worthy and most sensible ? Is it not ?

इस कथन में पहले दो वाक्यों में अधिक गहराई तो अवश्य है, पर चुटीलापन और मार्मिकता विशेष मात्रा में नहीं। लेकिन इसके बाद ही वे लिखते हैं—

Well, you are welcome to entertain that. (कटा है) but this you should bear in mind, that the opinion of a person who does not even give his full name in his communication, who has never appeared in public print and whose career, as a literary man in Hindi has hitherto been unknown, can only be taken for it is worth, and no more.

चुटीले व्यंग्य का एक और नमूना देखिए। पंडित प्रभुदयाल मिश्र ने कालिदास के ‘मेघदूत’ का उर्दू में अनुवाद किया। उसमें बहुत से दोष थे। उन दोपों को दिखाने के बाद द्विवेदी जी ने लिखा—

‘जो लेखक छः मात्राओंवाले चित्रकूट और पाँच मात्राओंवाले दामागीरी को ‘संस्कृत ज्ञान में व्यब्लग्न’ समझना है वह यदि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कविता का मर्म समझने बैठे तो उसके साहस की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उसकी योग्यता की नहीं।’

दहोरी के मांस नज़र नहीं आता। सफाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सत्तगुर-दास। आपकी इन्स्पेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनखावाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दृक्षे हड़ताल कर चुके हैं। फ़ज़्ल ज़मीन के पृक्ष दुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वमुख उसके तीन हज़ार देते थे। पर उन्हें वह दुरङ्गा न मिला। उसके ६ महीने बाद न्यूनिसिपैलिटी के मैंवर पंडित सत्यसर्वस्व के सुसुर के साले के हाथ वही ज़मीन हज़ार पर बेंच दी गई।”

उन्होंने एक बार लिखा था—“प्रहसनों और हँसी-मज़ाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शामन भी कर सकता है। हिंदी में साहित्य के इस अंश की वहुत कमी है।

— सरस्वती १६-१.पृ० ६१

द्विवेदी जी के इस आदर्श को ध्यान में रखते हुए यदि हम ऊपर दिया हुआ अवतरण पढ़ें तो हमारा विशेष मनोरंजन होगा और हम यह समझ सकेंगे कि किस अवसर पर वे इस प्रकार की शैली का प्रयोग करते थे।

एक बार शिवचरणदास नाम के किसी सज्जन ने १४ जान स्ट्रीट, अक्सफ़र्ड से १५ जनवरी १८७६ को ‘सरस्वती’ लौटाते हुए लिखा—

“‘वारह मयत्य’ के भेजे हुए Article में जो अंत में ४ वा ५ शब्द हैं उनकी न तो वहाँ पर ज़रूरत है और न वह शोभा देते हैं, पर यह साफ़ दिखाते हैं कि दास्यभाव अभी हम भारतवर्षीयों के मनों के भीतर पूरी तरह से बस रहा है।”

हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सत्तगुर-दास। आपकी इन्स्पेक्टरी के जमाने में, हिंसाव से कम तनखवाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दृक्षे हड़ताल कर चुके हैं। फ़ज़ूल ज़मीन के पृक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वमुख उसके तीन हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्यूनि-सिपेलिटी के मैंवर पंदित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन हज़ार पर बेंच दी गई।”

उन्होंने एक बार लिखा था—“प्रहसनों और हँसी-मज़ाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय अवक्त्तियों का शामन भी कर सकता है। हिंदी में साहित्य के इस अंश वी बहुत कमी है।

— सरस्वती १६-१-पृ० ६१

द्विवेदी जी के इस आदर्श को ध्यान में रखते हुए यदि हम ऊपर दिया हुआ अवतरण पढ़ें तो हमारा विशेष मनोरंजन होगा और हम यह समझ सकेंगे कि किस अवसर पर वे इस प्रकार की शैली का प्रयोग करते थे।

एक बार शिवचरणदास नाम के किसी सज्जन ने १४ जान स्ट्रीट, अक्सफ़र्ड से १५ जनवरी १९०६ को ‘सरस्वती’ लौटाते हुए लिखा—

“‘बारह मयत्य’ के भेजे हुए Article में जो अंत में ४ वा ५ शब्द हैं उनकी न तो वहाँ पर ज़रूरत है और न वह शोभा देते हैं, पर यह साफ़ दिखाते हैं कि दास्यभाव अभी हम भारतवर्षीयों के मनों के भीतर पूरी तरह से बस रहा है।”

भाषा तथा साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति से ही रहा है। साहित्य, भाषा और आलोचनादर्श-संवंधी जो वाद-विवाद हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में छिड़ा हुआ था और एक-दूसरे पर जो आक्षेप किये जा रहे थे उनमें भाग लेकर आक्षेपों का उत्तर देते हुए—यह ठीक है कि वे प्रायः वाद-विवाद से दूर रहना चाहते थे—उन्होंने जिस शैली को अपनाया, ‘सरस्वती’ और उससे संबंधित व्यक्तियों पर लांछन लगाने-वाले व्यक्तियों को मुँह-तोड़ जबाब देने के लिए और अयोग्य तथा अनधिकारी व्यक्तियों को साहित्यसंसार में पढ़ारण करने और धाँधली मचाने से रोकने के लिए—तत्परता के साथ उनका मुँह बंद करने के लिए उन्होंने जिस शैली का अवलंब ग्रहण किया, उसमें हास्य और व्यंग्य की चुलचुलाहट में मिलकर मार्मिकता, कटाक्ष और चुटीलापन ही दिखाई देता है; जिसका कारण उनकी साहित्य-विषयक सद्भावना थी; जो उत्तरदायित्व के विचार से उत्तेजित होकर उनके उग्र स्वभाव के कारण स्वयं उग्र-रूप में दिखाई देती है। इस शैली का आरंभ प्रायः तर्क-वितर्क से होता है। पहले वे विवादग्रस्त विषयों की गुलियों को सुलझाकर सामने रखने की चेष्टा करते थे। इसका उदाहरण हमें ‘श्रीहर्ष का समय’, ‘धेद’ इत्यादि शीर्षक निवंधों में मिलता है। द्विवेदी जी की यह तर्कशैली बड़ी प्रौढ़ है। इसमें स्वाभाविक ओज है, हास्य है और गंभीरता है। ओज के दो कारण हैं। पहला, विशेष अध्ययन और दूसरा, उनका स्वभाव। व्यंग्य का प्रयोग वे तभी करते थे जब उन्हें ज्ञात हो जाता था कि कोई छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है या अपनी योग्यता का अनुचित प्रयोग कर रहा है। अपना कथन प्रमाणित करने के लिए वे अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ तथा उनकी पुस्तकों से टिप्पणियाँ उद्धृत करते थे। इससे उनके

भाषा तथा साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति से ही रहा है। साहित्य, भाषा और आलोचनादर्श-संवंधी जो बाद-विवाद हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में छिड़ा हुआ था और एक-दूसरे पर जो आक्षेप किये जा रहे थे उनमें भाग लेकर आक्षेपों का उत्तर देते हुए—यह ठीक है कि वे प्रायः बाद-विवाद से दूर रहना चाहते थे—उन्होंने जिस शैली को अपनाया, 'सरस्वती' और उससे संवंधित व्यक्तियों पर लांबन लगाने-वाले व्यक्तियों को मुँह-तोड़ जबाब देने के लिए और अयोग्यतथा अनधिकारी व्यक्तियों को साहित्यसंसार में पढ़ार्पण करने और धाँवली मचाने से रोकने के लिए—तत्परता के साथ उनका मुँह बंद करने के लिए उन्होंने जिस शैली का अवलंब ग्रहण किया, उसमें हास्य और व्यंग्य की चुलचुलाहट में मिलकर मार्मिकता, कटाक्ष और चुटीलापन ही दिखाई देता है; जिसका कारण उनकी साहित्य-विषयक सद्भावना थी; जो उत्तरदायित्व के विचार से उत्तेजित होकर उनके उग्र स्वभाव के कारण स्वयं उग्र-रूप में दिखाई देती है। इस शैली का आरंभ प्रायः तर्क-वितर्क से होता है। पहले वे विवादग्रस्त विषयों की गुरुत्थयों को सुलभाकर सामने रखने की चेष्टा करते थे। इसका उदाहरण हमें 'श्रीहर्ष का समय', 'वेद' इत्यादि शीर्षक निवंधों में मिलता है। द्विवेदी जी की यह तर्कशैली बड़ी प्रौढ़ है। इसमें स्वाभाविक ओज है, हास्य है और गंभीरता है। ओज के दो कारण हैं। पहला, विशेष अध्ययन और दूसरा, उनका स्वभाव। व्यंग्य का प्रयोग वे तभी करते थे जब उन्हें ज्ञात हो जाता था कि कोई छोटे मुँह बड़ी वात कह रहा है या अपनी योग्यता का अनुचित प्रयोग कर रहा है। अपना कथन प्रमाणित करने के लिए वे अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ तथा उनकी पुस्तकों से टिप्पणियाँ उद्धृत करते थे। इससे उनके

नाथारण के सामने इस ढंग से रखने के लिए किया है कि वे उनकी समझ में आ जायें। दृष्टिएः—

“संसार में जो यात जैसी देख पढ़े यहि यो उमे वैष्णा ही। वर्णन फरना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पायंडी पा होना अच्छा नहीं। दराय में फवि पा जोश दद जाता है। उसके मन में भाव घाप ही घाप पैदा होते हैं। जब यह निदर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट फरता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। यनावट से कविता चिन्ह जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण दोयों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हो उन्हें यदि वे रोक दीक ग्रहण कर दे तो उनकी कविता दृद्यन्द्रावक हुए यिना न रहे। परंतु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की गुरुवट के संदर्भ ही लाने से नहीं उमे अपने मन पी थान बहने का साधन नहीं होता तो कविता पा रम ज़रुर फस हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतपूर्ण ग्रभावहीन हो जाती है।”

नाथारण जनना की कविता की परिभाषा—कविता क्या—समझाने के लिए इस मरल शैली को द्विवेदी जी ने अपनाया है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन-प्रणाली अत्यन्त सुलभी हुई है। उनकी भाषा कभी-कभी कुछ और शुद्ध हो जाती है। उसमें उर्दू के तत्सम तो क्या तज्ज्वर शब्द भी एक ही आध मिलते हैं। यह उनकी इन गवेषणात्मक शैली का दूसरा रूप है। इसका एक उदाहरण साहित्य-प्रियक द्विवेदी जी के विचार समझाने के लिए ऊपर दिया हुआ अवतरण हो सकता है। उसमें भाषा विशेष सरल नहीं है और गंभीर भाष्यजन में कुछ दुरुहता भी है, जिसे द्विवेदी जी ने कुरालता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है।

नाभारण के समाने इस ढंग से रहने के लिए किया है कि वे उमकी समझ में आ जायें। देखिए—

“संमार में जो यात जैसी देख पढ़े पर्याप्त बो उमे चमा हो चर्गुन करना चाहिए। उमके किए किसी तरह की रोक या पायंदी का होना अच्छा नहीं। दृष्टि में फवि का जोश दृष्टि जाता है। उमके मन में भाव आप ही आप पैदा होते हैं। जब यह निदर होपर उन्हें अपनी कविता में प्रकट रहता है तभी उसका पूरा-पूरा घमर लोगों पर पड़ता है। यनावट से कविता यिगद जाती है। किसी राजा का किसी व्यक्ति-विशेष के गुण दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हो उन्हें यदि वेरोक दोक प्रकट कर दे तो उमकी कविता हृदय-द्वावफ हुए यिना न रहे। परंतु परन्तरता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की गुणावट के रैंशा हो जाने से यदि उमे अपने मन की यात बहने का साइर नहीं होता तो कविता का रम ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतप्य प्रभावहीन हो जाती है।”

माधारण जनना की कविता की परिभाषा—कविता क्या—समझाने के लिए इस सरल शैली को द्विवेदी जी ने अपनाया है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन-प्रणाली अत्यन्त सुलभी हुई है। उनकी भाषा कभी-कभी कुछ और शुद्ध हो जाती है। उसमें उर्दू के तत्सम तो क्या तद्दव शब्द भी एक ही आध मिलते हैं। यह उनकी इस गवेषणात्मक शैली का दूसरा रूप है। इसका एक उदाहरण साहित्य-प्रियक द्विवेदी जो के विचार समझाने के लिए ऊपर दिया हुआ अवतरण हो सकता है। उसमें भाषा विशेष सरल नहीं है और गंभीर भाष्यजन में कुछ दुखहता भी है, जिसे द्विवेदी जी ने कुशलता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है।

विशेष रोचकता आ जाती है और भाव स्पष्टतया वोधगम्य जाता है। दूसरे शब्दों में—

‘अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली संकीर्णी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काढ़ के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता वोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल निःघंटु का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का संदर प्रयोग वह है जो संगीत (दश्चारण), व्याकरण, कोप आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सद्यायता से संघटित हो; जिसके ध्वनिमात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रदर्श हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-ज्ञेय में उद्दृ-मित्रित अथवा संस्कृत-मित्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने की अर्ति धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ अंभीर अध्ययन आरंभ होता तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उपके स्थ पित्र के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह हस्त, अनलंकृत और रुक्त है। उनकी भाषा में कोई संगान नहीं, वेवज्ज उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जो जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे वभी कभी खाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परं वे किर आंती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूत है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों की पुष्टि

विशेष रोचकता आ जाती है और भाव स्पष्टतया बोधगम्य जाता है। दूसरे शब्दों में—

‘अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली साँझी है। सामयिक प्रयोग से हसारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुप्रभा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल निखंडु का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का संदर प्रयोग वह है जो संगीत (ठचारण), व्याकरण, कोप आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनिमात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रशंस हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उद्दू-मित्रित अथवा संस्कृत-मित्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने को अंत धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होता तो द्विवेदी जी की शैलों के व्यक्तित्व और उपके स्थ पित्र के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह हस्त, अनलंकृत और रुक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगान नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधर लिया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जो जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे बभी कभी खाली घली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परंतु वे फिर आंगी हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूत है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों की सुष्ठि

# हिंदो की हिमायत

“अपनो मा को निःसहाय; निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की मा की सेवा-युग्रूपा में रत होता है उन अधम की कृतमता का यथा प्रायशिचत्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याश्चल्स्य या आपस्तंव ही कर सकते हैं।”

—“साहित्य की महत्त्व”

वंकिम वाबू ने एक बार श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त से कहा था—  
आप अँगरेजी में लिखते हैं, यह खुशी की बात है; लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगली होते हुए आप बँगला-साहित्य के प्रति विलकुल उदासीन हैं। बँगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते ?

दत्त ने उत्तर दिया—क्या कहूँ? बँगला में लिख नहीं सकता।

वंकिम वाबू इतना सुनते ही बिगड़ उठे, बोले—आप बँगला में लिख नहीं सकते ? बंगली होकर बँगला में नहीं लिख सकते, कितने अचरज की बात है !

दत्त ने पूछा—कैसे लिखूँ ? किस भाषा में लिखूँ ?

उसी भाषा में लिखिए जिसमें आप घर में बातचीत करते हैं।—वंकिम वाबू ने शीघ्रता से कहा।

दत्त हँस पड़े। कहने लगे—जैकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।

# हिंदो की हिमायत

“अपनो मा को निःसहाय, निरूपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की मा की सेवा-शुद्धूपा में रत होता है उव अधम की कृतमता का यथा प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्मीय या आपस्तंब ही कर सकते हैं।”

—“साहित्य की महत्त्व”

वंकिम वाबू ने एक बार श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त से कहा था—आप अँगरेजी में लिखते हैं, यह खुशी की बात है; लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि वंगाली होते हुए आप वँगला-साहित्य के प्रति विलकुल उदासीन हैं। वँगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते?

दत्त ने उत्तर दिया—स्था कहूँ? वँगला मैं लिख नहीं सकता।

वंकिम वाबू इतना सुनते ही बिगड़ उठे, घोले—आप वँगला में लिख नहीं सकते? वंगाली होकर वँगला में नहीं लिख सकते, कितने अचरज की बात है!

दत्त ने पूछा—कैसे लिखूँ? किस भाषा में लिखूँ?

उसी भाषा में लिखिए जिसमें आप घर में बातचीत करते हैं।—वंकिम वाबू ने शीघ्रता से कहा।

दत्त हँस पड़े। कहने लगे—ज्ञेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।

कराया गया था। तब से अब तक उसी लिपि में हिंदी लिखने में मेरा अधिकांश समय चयतीत हुआ। यह हस बात का प्रमाण है कि हस लिपि और हस भाषा से मेरा ग्रंथ ही नहीं, इन दोनों पर मेरी परम श्रद्धा है। मेरी संमति तो यह है कि भागत की प्राचीन सभ्यता का जिन्हें स्वल्पांश वै भी गर्व है उन सभी को हस लिपि और हस भाषा से श्रद्धा करनी चाहिए।”

द्विवेदी जी चाहते थे कि समस्त भारतवर्ष में हिंदी-भाषा का प्रचार हो, क्योंकि सभी प्रान्तों में उसके समझनेवाले मौजूद हैं। पर जनता में उस समय उसका मान नहीं था। विद्वानों की विद्वत्ता का अनुमान अँगरेजीदानी, फारसीदानी और कभी-कभी संस्कृतदानी देखकर कर लिया जाता था। वे हिंदी कितनी जानते हैं, जानते भी हैं या नहीं, इसके पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। कचहरियों में उसको घुसने की आज्ञा न थी, विश्वविद्यालयों और कालेजों ने उसका विष्णाकार कर दिया था। यहाँ तक कि जो लोग शुद्ध अँगरेजी या उर्दू नहीं बोल सकते थे वे भी उसे नहीं अपनाते थे—घर के काम-काज और चिट्ठी-पत्री तक में उसे व्यवहार में लाते रहते थे। पढ़े-लिखे लोग तो हिंदी के शब्द थे। उनके खान-पान, उनके रहन-सहन, वेप-भूषा सबमें अँगरेजी का समावेश हो गया था। बातचीत और पत्र-व्यवहार तो क्या, ग्रंथ-रचना भी वे अँगरेजी में ही किया करते थे।

द्विवेदी जी इसको भारतवासियों के—कम से कम हिंदी-भाषियों के—पतन की चरम सीमा समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने आलोचनात्मक शैली में एक व्यंग्यपूर्ण नोट लिखा है। इसमें हिंदी की तत्कालीन दशा का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं—

“जून सन् १६०७ के ‘हिंदुस्तान रिव्यू’ में छोटा-सा लेख,

कराया गया था। तब से अब तक उसी लिपि में हिंदी लिखने में मेरा अधिकांश समय व्यतीत हुआ। यह इस बात का प्रमाण है कि इस लिपि और इस भाषा से मेरा प्रेम ही नहीं, इन दोनों पर मेरी परम श्रद्धा है। मेरी संमति तो यह है कि भारत की प्राचीन सभ्यता का जिन्हें स्वव्यापांश में भी गर्व है उन सभी को इस लिपि और इस भाषा से अद्वा करनी चाहिए।”

द्विवेदी जी चाहते थे कि समस्त भारतवर्ष में हिंदी-भाषा का प्रचार हो, क्योंकि सभी प्रान्तों में उसके समझनेवाले मौजूद हैं। पर जनता में उस समय उसका मान नहीं था। विद्वानों की विद्वत्ता का अनुमान अँगरेजीदानी, कारसीदानी और कभी-कभी संस्कृतदानी देखकर कर लिया जाता था। वे हिंदी कितनी जानते हैं, जानते भी हैं या नहीं, इसके पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। कच्छरियों में उसको घुसने की आज्ञा न थी, विश्वविद्यालयों और कालेजों ने उसका विष्णाकार कर दिया था। यहाँ तक कि जो लोग शुद्ध अँगरेजी या उर्दू नहीं बोल सकते थे वे भी उसे नहीं अपनाते थे—घर के काम-काज और चिट्ठी-पत्री तक में उसे व्यवहार में लाते शर्माते थे। पढ़े-लिखे लोग तो हिंदी के शत्रु थे। उनके खान-पान, उनके रहन-सहन, वेप-भूपा सबमें अँगरेजी का समावेश हो गया था। बातचीत और पत्र-व्यवहार तो क्या, ग्रंथ-रचना भी वे अँगरेजी में ही किया करते थे।

द्विवेदी जी इसको भारतवासियों के—कम से कम हिंदी-भाषियों के—पतन की चरम सीमा समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने आलोचनात्मक शैली में एक व्यंग्यपूर्ण नोट लिखा है। इसमें हिंदी की तत्कालीन दशा का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं—

“जून सन् १९०७ के ‘हिंदुस्तान रिव्यू’ में छोटा-सा लेख,

साहित्य के। पर इससे क्या? हिंदी हमारी मातृभाषा है, अतः हमें उस पर गर्व करना चाहिए और फिर जब विदेशी हमारे साहित्य का मंथन कर लाभ उठा रहे हैं तब भी हम बेसुध पड़े रहें तो हमसे बढ़कर मूढ़ कौन होगा। 'माधुरी' के एक विशेषांक (वर्ष ७, खंड १, संख्या १) में द्विवेदी जी ने लिखा है—

"विवर्सन साहच के मातृभाषा-प्रेम से हमारे भारतीय भाई नवक सीखने की ज़रूरत कम समझते हैं यह अफसोस की बात है। मुझ छुद हिंदी-लेखक को भी मेरे ही देश—नहीं, प्रांत के भी केवल निवासी अपनी अँगरेज़ीदानी की धाक मुझ पर जमाने के लिए अँगरेज़ी ही में चिट्ठियाँ लिखने की कृपा कर डालते हैं। जैसे उन्हें अपनी भाषा लिखते लज्जा आती हो। जो लोग हिंदी ही में लेख लिखन-लिखकर अपनी कीर्ति-लता को चारों ओर फैजाते हैं वे भी, कभी-कभी, किसी अज्ञात भावना से आविष्ट-से होकर ख़ानगी पत्तों में भी अँगरेज़ी छाँटने लगते हैं।"

इन शब्दों में द्विवेदी जी की आत्मा बोल रही है। उनके हृदय में मातृभाषा के प्रति वड़ा प्रेम था। यह ठीक है कि उन्होंने समय-समय पर स्वयं अँगरेज़ी में पत्र लिखे हैं। पर यह बात बहुत पहले की है। सन् १६०३ में जब उन्होंने संपादन-कार्य ग्रहण किया ही था तब एक चिट्ठी स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न को लिखी थी। वह इस प्रकार है—

JHANSI,

30th October, 1903.

DEAR Pt. SATYA NARAYAN,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you

साहित्य के। पर इससे क्या? हिंदी हमारी मातृभाषा है, अतः हमें उस पर गर्व करना चाहिए और फिर जब विदेशी हमारे साहित्य का मंथन कर लाभ उठा रहे हैं तब भी हम वेसुध पड़े रहें तो हमसे बढ़कर मूढ़ कौन होगा। 'माधुरी' के एक विशेषांक (वर्ष ७, खंड १, संख्या १) में द्विवेदी जी ने लिखा है—

"ग्रियर्सन साहब के मातृभाषा-प्रेम से हमारे भारतीय भाई गवक्ष सीखने की ज़रूरत कम समझते हैं यह अफसोस की बात है। मुझ छुद हिंदी-लेखक को भी मेरे ही देश—नहीं, प्रांत के भी केर्ड निवासी अपनी अँगरेजीदानी की धाक मुझ पर जमाने के लिए अँगरेजी ही में चिट्ठियाँ लिखने की कृपा कर डालते हैं। जैसे उन्हें अपनी भाषा लिखते लज्जा आती हो। जो लोग हिंदी ही में लेख लिख-लिखकर अपनी कीर्ति-लता को चारें और फैजाते हैं वे भी, कभी-कभी, किसी अज्ञात भावना से आविष्ट-से होकर ख़ानगी पत्रों में भी अँगरेजी छाँटने लगते हैं।"

इन शब्दों में द्विवेदी जी की आत्मा बोल रही है। उनके हृदय में मातृभाषा के प्रति बड़ा प्रेम था। यह ठीक है कि उन्होंने समय-समय पर स्वयं अँगरेजी में पत्र लिखे हैं। पर यह बात बहुत पहले की है। सन् १६०३ में जब उन्होंने संपादन-कार्य ग्रहण किया ही था तब एक चिट्ठी स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न को लिखी थी। वह इस प्रकार है—

JHANSI,  
30th October, 1903.

DEAR PT. SATYA NARAYAN,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you

उदाहरण के लिए यहाँ एक सिक्कारिशी चिट्ठी उद्घृत की जाती है। एक महाशय 'सरस्वती' के अच्छे लेखकों में से थे—प्रायः उसमें लिखा करते थे। द्विवेदी जी उनको मानते थे। एक बार एक विश्वविद्यालय में हिंदी-अध्यापक की जगह खाली हुई। लेखक महोदय एक स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्होंने द्विवेदी जी से एक सिक्कारिशी चिट्ठी लिखने को कहा। द्विवेदी जी इस समय संपादन-कार्य से अलग हो चुके थे। उन्होंने यह पत्र लिखा—

This is to certify that Babu .....  
..... headmaster .....  
has a very good knowledge of Hindi language  
and literature, and has contributed to the "Sara-  
swati", the leading Hindi Magazine, published  
by the Indian Press, Allahabad, some very ins-  
tructive and interesting articles containing criti-  
cal observations, especially those on the work of  
Tulsi Dasa. I admire his acumen. I am told  
he is desirous of making the Hindi language and  
Hindi literature his lifelong study. He appears  
to me eminently fitted for the post of the lecturer  
in the .....  
University. Given opportunity Babu .....  
..... is sure to do  
useful research work.

JUHI-KALAN  
CAWNPORE:  
24th April, 1922

MAHAVIRA PD. DWIVEDI,  
RETIRED EDITOR,  
Saraswati,

उदाहरण के लिए यहाँ एक सिक्कारिशी चिट्ठी उद्धृत की जाती है। एक महाशय 'सरस्वती' के अच्छे लेखकों में से थे—प्रायः उसमें लिखा करते थे। द्विवेदी जी उनको मानते थे। एक बार एक विश्वविद्यालय में हिंदी-अध्यापक की जगह खाली हुई। लेखक महोदय एक स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्होंने द्विवेदी जी से एक सिक्कारिशी चिट्ठी लिखने को कहा। द्विवेदी जी इस समय संपादन-कार्य से अलग हो चुके थे। उन्होंने यह पत्र लिखा—

This is to certify that Babu .....  
.....headmaster ..... has a very good knowledge of Hindi language and literature, and has contributed to the "Saraswati", the leading Hindi Magazine, published by the Indian Press, Allahabad, some very instructive and interesting articles containing critical observations, especially those on the work of Tulsi Dasa. I admire his acumen. I am told he is desirous of making the Hindi language and Hindi literature his lifelong study. He appears to me eminently fitted for the post of the lecturer in the ..... University. Given opportunity Babu ..... is sure to do useful research work.

JUHI-KALAN  
CAWNPORE:  
24th April, 1922

MAHAVIRA PD. DWIVEDI,  
RETired EDITOR,  
*Saraswati*,

वह कैसा प्रत्युपकार है ! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे से आप सुशिक्षित और सुपंडित बने वैठे हैं उनको तथा उनकी सन्तति के तो पढ़ने के लिए उनकी निकी भाषा में हृदयने से भी दस-पाँच तक अच्छी पुस्तकें न मिलें; और आप मेज़-कुर्सी लगाये, मूँज़े ऐंठते प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शंकर, जैमिन और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें। × × × क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही हस देश में रहते हैं ! क्या ये स्कूल, कालेज और बड़ीक उन्हीं के घर के रूपमें से चलते हैं और मिलते हैं ?

हमारी यह शिकायत × × × शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दिया कीजिए। लिखना नहीं आता तो सीखिए। अपना कर्तव्य पालन कीजिए ।"

(सरस्वती, सितंबर १९१४)

ऐसे नोट जनता पर प्रभाव डालते थे। लेकिन द्विवेदी जी की अभिलाषा नहीं पूर्ण हुई। शायद ही एक-आध लेखक ने इन टिप्पणियों पर ध्यान दिया हो; वाक्ती सब लकीर के फक्कीर ही बने रहे। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' (भाग १५, संख्या ४, पृष्ठ १६६) में 'देशी भाषाओं में शिक्षा'-शीर्पक लेख इस प्रकार लिखा है—

"भारत में विदेशी भाषा बड़ा ही ग़ज़ब ढा रही है। उसी की कृपा से हम लोग अपनी भाषा भूल-से रहे हैं। अँगरेज़ीदाँ मातृभाषा को छुणा की दृष्टि से देखते हैं। कितने ही महात्मा तो ऐसे हैं, जिन्हें अपनी आपा का एक शब्द तक लिखते लज्जा मालूम होती है। उनकी अँगरेज़ी चिट्ठियों का उत्तर बार-बार मातृभाषा में देने पर

वह कैसा प्रत्युपकार है ! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे से आप सुशिक्षित और सुपंडित बने वैठे हैं उनका तथा उनकी सत्तति के तो पढ़ने के लिए उनकी निजी भाषा में हूँडने से भी दस-पाँच तक अच्छी पुस्तकें न मिलें; और आप मेज़-कुर्सी लगाये, मूँज़े ऐडते प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शंकर, जैमिन और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें। × × × क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में रहते हैं ! क्या ये स्कूल, कालेज और वन्डीफ़ उन्हीं के घर के रूपये से चलते हैं और मिलते हैं ?

हमारी यह शिकायत × × × शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया कीजिए। लिखना नहीं आता तो सीखिए। अपना कर्तव्य पालन कीजिए ।"

(सरस्वती, सितंबर १९१४)

ऐसे नोट जनता पर प्रभाव डालते थे। लेकिन द्विवेदी जी की अभिलाषा नहीं पूर्ण हुई। शायद ही एक-आध लेखक ने इन टिप्पणियों पर ध्यान दिया हो; वाक़ी सब लकीर के फ़कीर ही बने रहे। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' (भाग १५, संख्या ४, पृष्ठ १६६) में 'देशी भाषाओं में शिक्षा'-शीर्षक लेख इस प्रकार लिखा है—

"भारत में विदेशी भाषा बड़ा ही ग़ज़ब डा रही है। उसी की कृपा से हम लोग अपनी भाषा भूल-से रहे हैं। अँगरेज़ीदाँ मातृभाषा को धूणा की दृष्टि से देखते हैं। कितने ही महात्मा तो ऐसे हैं, जिन्हें अपनी आपा का एक शब्द तक लिखते लज्जा मालूम होती है। उनकी अँगरेज़ी चिट्ठियों का उत्तर बार-बार मातृभाषा में देने पर

अच्छी से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते । अफ़सोस !”

पर हिंदी-प्रचार के लिए द्विवेदी जी की सर्वत्र यही नीति नहीं रहती थी । वास्तव में वे साम, दाम, दण्ड और भेद का उचित उपयोग करना जानते थे और करते भी थे । यदि समझते कि अमुक व्यक्ति केवल समझाये से ही हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य समझ लेगा, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते थे । इसका उदाहरण सेंट निहालसिंहजी के विषय में लिखी हुई एक टिप्पणी से मिलता है । सेंट जी एक प्रतिष्ठित और विद्वान् पुरुष थे, द्विवेदी जी ने उनके लेख पढ़े । सेंट जी में प्रतिभा थी और विद्वत्ता भी । फिर क्या था । द्विवेदी जी उन पर लट्ठ हो गये और उनसे हिंदी में भी लिखने को कहा । द्विवेदी जी की नीति सफल हुई । सेंट निहालसिंह जी ने कई लेख ‘सरस्वती’ के लिए लिखे

२६ अक्टूबर, १६०४ के “श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार” में “हिंदी बोल नहीं सकती”—रीर्पक एक लेख प्रकाशित हुआ था । उसके लेखक ने लिखा था—

“सुनते हैं, हिन्दी अज्ञरों को भैंस बराबर समझनेवाले महात्मा लोग पहा करते हैं कि हिन्दी में पढ़ने की चीज़ ही क्या है, जो पढ़ी जाय किन्तु हे अँगरेज़ी का महत्व देनेवाले महापुरुषो ! हिन्दी में अँगरेज़ी का महत्व क्यों नहीं आता ? न आने के अपराधी क्या आपके सिंवा और कोई है ? अँगरेज़ी की जो बड़ाई आपकी खोपदियों में समा गई है उसकी भेट हिन्दी के पढ़नेवालों को देने की ज़िम्मेवारी क्या उन्हीं लोगों की है, जो बेचारे घर की दशा ठीक न होने के कारण अँगरेज़ी पढ़ने का मौका नहीं पा सके ? अँगरेज़ी विद्या के धुरन्धर

अच्छी से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते । अफसोस !”

पर हिंदी-प्रचार के लिए द्विवेदी जी की सर्वत्र यही नीति नहीं रहती थी । वास्तव में वे साम, दाम, दरड और भेद का उचित उपयोग करना जानते थे और करते भी थे । यदि समझते कि अमुक व्यक्ति केवल समझाये से ही हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य समझ लेगा, तो उसके साथ वैसा ही वर्ताव करते थे । इसका उदाहरण सेंट निहालसिंहजी के विषय में लिखी हुई एक टिप्पणी से मिलता है । सेंट जी एक प्रतिष्ठित और विद्वान् पुरुष थे, द्विवेदी जी ने उनके लेख पढ़े । सेंट जी में प्रतिभा थी और विद्वत्ता भी । फिर क्या था । द्विवेदी जी उन पर लट्ठ हो गये और उनसे हिंदी में भी लिखने को कहा । द्विवेदी जी की नीति सफल हुई । सेंट निहालसिंह जी ने कई लेख ‘सरस्वती’ के लिए लिखे

२६ अक्टूबर, १९०४ के “श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार” में “हिंदी बोल नहीं सकती”—रीर्पक एक लेख प्रकाशित हुआ था । उसके लेखक ने लिखा था—

“सुनते हैं, हिन्दी अन्नरों को भैंस बराबर समझनेवाले महात्मा लोग दहा करते हैं कि हिन्दी में पढ़ने की चीज़ ही क्या है, जो पढ़ी जाय किन्तु हे अँगरेज़ी को महत्व देनेवाले महापुरुषो ! हिन्दी में अँगरेज़ी का महत्व क्यों नहीं आता ? न आने के अपराधी क्या आपके सिंवा और कोई है ? अँगरेज़ी की जो बड़ाई आपकी खोपड़ियों में समा गई है उसकी भैंट हिन्दी के पढ़नेवालों को देने की ज़िम्मेवारी क्या उन्हीं लोगों की है, जो बैचारे घर की दशा ठीक न होने के कारण अँगरेज़ों पढ़ने का मौक़ा नहीं पा सके ? अँगरेज़ी विद्या के धुरन्धर

इस रहस्य को समझने के लिए हमें द्विवेदी जी के उद्देश्य और आदर्श को समझना पड़ेगा । वे चाहते थे कि भारतवासी भारतीयता और राष्ट्रीयता का अर्थ समझ जायें और देश की उन्नति की ओर ध्यान दें । इसका एकमात्र उपाय, उनकी समझ में, एक भाषा का प्रचार था । वे हिंदी को इस पद के योग्य समझते थे; क्योंकि यही एक भाषा ऐसी थी—है भी—जिसका प्रचार अन्य देशी भाषाओं से अधिक है । अतः यदि कोई दूसरी भाषा इस ओर झुकती थी तो वे इसे आपस की फूट समझते थे । उनका मत था कि हिंदी के अतिरिक्त कोई भाषा इस पद के योग्य हो ही नहीं सकती और यदि किसी प्रान्तवाले ऐसा करने का उद्योग भी करेंगे तो इससे हानि ही होगी । यही बात उन्होंने 'सरस्वती' में (भाग १५, संख्या १, पृ० ४१०) लिखी है । उस समय बंगालियों ने यह चेष्टा की थी कि बँगला राष्ट्रभाषा बना दी जाय । बँगला तो इस पद के सर्वथा अनुपयुक्त थी—यद्यपि उसका साहित्य हिंदी से उन्नत था—पर हिंदी के उपयुक्त होने पर भी उसकी उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था । द्विवेदी जी आपस की इस कलह से बहुत दुखी हुए । उन्होंने बंगालियों को समझाने के लिए लिखा—

"मद्रास प्रान्त तक में जब हमारी भाषा के समझनेवाले प्राय सर्वत्र पाये जाते हैं, तब बंगाल, बम्बई और पञ्चाव के विषय में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं । सो, जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने-कोने में विद्यमान हैं और जिसकी सहायता से मनुष्य अल्मोड़ा से कुमारिका अन्तरीप और पेशावर से रंगून-तक की यात्र में श्रपने भाव अन्य प्रान्तवालों पर प्रकट कर सकता है और उनकी बात समझ सकता है, उसी का—उसी हिन्दी का—उसी के घ'

इस रहस्य को समझने के लिए हमें द्विवेदी जी के उद्देश्य और आदर्श को समझना पड़ेगा । वे चाहते थे कि भारतवासी भारतीयता और राष्ट्रीयता का अर्थ समझ जायँ और देश की उन्नति की ओर ध्यान दें । इसका एकमात्र उपाय, उनकी समझ में, एक भाषा का प्रचार था । वे हिंदी को इस पद के योग्य समझते थे; क्योंकि यही एक भाषा ऐसी थी—है भी—जिसका प्रचार अन्य देशी भाषाओं से अधिक है । अतः यदि कोई दूसरी भाषा इस ओर झुकती थी तो वे इसे आपस की फूट समझते थे । उनका मत था कि हिंदी के अतिरिक्त कोई भाषा इस पद के योग्य हो ही नहीं सकती और यदि किसी प्रान्तवाले ऐसा करने का उद्योग भी करेंगे तो इससे हानि ही होगी । यही बात उन्होंने 'सरस्वती' में (भाग १५, संख्या १, पृ० ४१०) लिखी है । उस समय वंगालियों ने यह चेष्टा की थी कि बँगला राष्ट्रभाषा बना दी जाय । बँगला तो इस पद के सर्वथा अनुपयुक्त थी—यद्यपि उसका साहित्य हिंदी से उन्नत था—पर हिंदी के उपयुक्त होने पर भी उसकी उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था । द्विवेदी जी आपस की इस कलह से बहुत दुखी हुए । उन्होंने वंगालियों को समझाने के लिए लिखा—

"मद्रास प्रान्त तक में जब हमारी भाषा के समझनेवाले प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं, तब बंगाल, बम्बई और पञ्चाव के विषय में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं । सो, जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने-कोने में विद्यमान हैं और जिसकी सहायता से मनुष्य अल्मोड़ा से कुमारिका अन्तरीप और पेशावर से रंगून-तक की यात्रा में अपने भाव अन्य प्रान्तवालों पर प्रकट कर सकता है और उनकी बात समझ सकता है, उसी का—उसी हिन्दी का—उसी के घ' में

गति रखते थे और उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के जीवन-चरित भी, संक्षेप में, लिखे हैं। अतः यह समझना कि द्विवेदी जी को वँगला से द्वेष था, ठीक नहीं है। वास्तव में वे यह चाहते थे कि जिस प्रकार वंगाली अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए दत्तचित्त हैं, उसी प्रकार—चाहे उन्हीं की देखादेखी—हिंदी-भाषा-भाषियों को भी यह चेष्टा करनी चाहिए कि हिंदी-साहित्य की पूर्ण उन्नति हो जाय। वँगला-साहित्य पर उन्होंने समय-समय पर जो टिप्पणियाँ दी हैं वे इसी उद्देश्य की ओतक हैं कि वंगालियों का अपनी भाषा के प्रति जैसा कर्तव्य है, उसे सुभाकर हिंदीवालों को भी अपनी मातृ-भाषा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान करा दें। 'वंग-कवि-कुल-कोकिल' वादू नवीनचंद्र सेन, वी० ए० का संक्षिप्त परिचय उन्होंने अप्रैल, सन् १६०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। उसके अंत में द्विवेदी जी ने लिखा है—

'ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एक आध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी हीना और जीण-कलेवरा हिंदी है।'

इस कथन से हमें ज्ञान होता है कि द्विवेदी जी के हृदय में अन्य भाषाओं की उन्नति देखकर कसक उठती थी। यह कसक डाह या ईर्ष्या की ओतक नहीं थी, वरन् इस हूक का कारण यह था कि हिंदी की इसी प्रकार उन्नति करने के लिए हिंदी-भाषा-भाषी कुछ ध्यान ही नहीं देते थे।

यही बात उर्दू के लिए भी कही जा सकती है। उर्दू की उन्नति की ओर कुछ लोग ध्यान देते थे। एक बार भोपाल की बेगम साहिबा ने मुहम्मद साहब के चरित्र-लेखक को दो सौ

गति रखते थे और उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के जीवन-चरित भी, संक्षेप में, लिखे हैं। अतः यह समझना कि द्विवेदी जी को वँगला से द्वेष था, ठीक नहीं है। वास्तव में वे यह चाहते थे कि जिस प्रकार वँगली अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए दत्तचित्त हैं, उसी प्रकार—चाहे उन्हीं की देखादेखी—हिंदी-भाषा-भाषियों को भी यह चेष्टा करनी चाहिए कि हिंदी-साहित्य की पूर्ण उन्नति हो जाय। वँगला-साहित्य पर उन्होंने समय-समय पर जो टिप्पणियाँ दी हैं वे इसी उद्देश्य की ओतक हैं कि वँगलियों का अपनी भाषा के प्रति जैसा कर्तव्य है, उसे सुभाकर हिंदीवालों को भी अपनी मातृ-भाषा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान करा दें। 'वंग-कवि-कुल-कोकिल' वावू नवीनचंद्र सेन, वी० ए० का संचित परिचय उन्होंने अंग्रेज, सन् १६०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। उसके अंत में द्विवेदी जी ने लिखा है—

‘ईश्वर से प्रार्थना है कि पैसा एक-थाध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी हीना और जीण-कलेवरा हिंदी है।’

इस कथन से हमें ज्ञान होता है कि द्विवेदी जी के हृदय में अन्य भाषाओं की उन्नति देखकर कसक उठती थी। यह कसक डाह या ईर्ज्या की ओतक नहीं थी, वरन् इस हूक का कारण यह था कि हिंदी की इसी प्रकार उन्नति करने के लिए हिंदी-भाषा-भाषी कुछ ध्यान ही नहीं देते थे।

यही वात उर्दू के लिए भी कही जा सकती है। उर्दू की उन्नति की ओर कुछ लोग ध्यान देते थे। एक बार भोपाल की बेगम साहिबा ने मुहम्मद साहब के चरित्र-लेखक को दो सौ

इसे सीखे तो हमारा निस्तार ही नहीं। पर हमारा रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, सब अँगरेजी ढंग का हो जाय, हँसा, अपनी मातृभाषा में लिखना, पढ़ना, बोलना, पाप समझने लगें, यह हमारे लिए धातक है। अँगरेजी-भाषा-विषयक उनके विचार 'महामंडल-माहात्म्य' नाम की अँगरेजी पुस्तक की आलोचना से स्पष्ट हो जाते हैं। यह आलोचना 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ३, पृ० १८६) में प्रकाशित हुई थी। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा है—

"भारत धर्म-महामण्डल धार्मिक परिपद है। सनातनधर्म की रक्षा और विस्तार हो के लिए उसका जन्म हुआ है। ऐसी संस्था से प्रकाशित पुस्तकें अँगरेजी में क्यों निकले? हिंदी या और किसी भाषा में क्यों नहीं?"

इसी प्रकार जब 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के लेखक वाबू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा—

"मैंने कलम उठा अपनी गँवारी देशी भाषा वा असभ्य देवनागरी अक्षरों में छोटा सा विचार लिख दिया। हमारे साहब हिंदू लोग हँसेंगे कि यह अजब उल्लू है कि हवाई हीप में भी हिंदी में लिखना है। भला इसे पढ़ेगा कौन? किंतु उन्हें अलमोहा, द्वारिकाश्रम हस्तादि या अन्य किसी जगह ही सही, योरप-अमेरिका-निवासियों को अँगरेजी, जर्मन, फ्रान्सीसी भाषाओं में लिखते देख हँसी नहीं आती, उलटे उनकी नक्ल कर वे स्वयं अँगरेजी में लिखने लग जाते हैं। इसी का नाम है पराधीनता की छाप" [१]

—पृ० १५६।

— द्विवेदी

तब द्विवेदी जी ने वडे मार्के का यह नोट लिखा था—

इसे सीखे तो हमारा निस्तार ही नहीं। पर हमारा रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, सब अँगरेजी ढंग का हो जाय, हमें अपनी मातृभाषा में लिखना, पढ़ना, बोलना, पाप समझने लगें, यह हमारे लिए धातक है। अँगरेजी-भाषा-विषयक उनके विचार 'भाषामंडल-माहात्म्य' नाम की अँगरेजी पुस्तक की आलोचना से स्पष्ट हो जाते हैं। यह आलोचना 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ३, पृ० १८६) में प्रकाशित हुई थी। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा है—

"भारत धर्म-महामण्डल धार्मिक परिपद् है। सनातनधर्म की रचा और विस्तार हो के लिए उसका जन्म हुआ है। ऐसी संस्था से प्रकाशित पुस्तकें अँगरेजी में क्यों निकलें? हिंदी या और किसी भाषा में क्यों नहीं?"

इसी प्रकार जब 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के लेखक वावू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा—

"मैंने कलम उठा अपनी गँवारी देशी भाषा वा असभ्य देवनागरी अक्षरों में छोटा सा विचार लिख दिया। हमारे साहब हिंदू लोग हँसेंगे कि यह अजब उल्लू है कि हवाई द्वीप में भी हिंदी में लिखना है। भला इसे पढ़ेगा कौन? किंतु उन्हें अल्मोड़ा, द्वारिकाश्रम इत्यादि या अन्य किसी जगह ही सही, योरप-अमेरिका-निवासियों को अँगरेजी, जर्मन, फ्रान्सीसी भाषाओं में लिखते देख हँसी नहीं आती, उल्टे उनकी नक्कल कर वे स्वयं अँगरेजी में लिखने लग जाते हैं। इसी का नाम है पराधीनता की छाप।"

पृ० १५६।

तब द्विवेदी जी ने बड़े मार्क का यह नोट लिखा था—

थे। 'हिंदी-विश्वकोप'-नामक ग्रंथ के पहले खंड की एक कापी द्विवेदी जी के पास भेजी गई। साथ में एक पत्र भी था। यह अँगरेजी में लिखा था। यह बात सन् १९३७ की है। द्विवेदी जी इस समय संपादक नहीं थे। उन्होंने कोय की समालोचना 'सरस्वती' में प्रकाशित कराई और उसमें साथ के अँगरेजी पत्र का जिक्र कर दिया।

उच्च कोटि की जो पुस्तकें द्विवेदी जी दूसरी भाषा में पढ़ते थे उन्हें अपनी भाषा में लिखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए कई बार उन्होंने प्रयत्न भी किया।

'उज्जैन के सूबा या सर-सूबा' रायबहादुर चिंतामणि विजायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० वी० ने एक पुस्तक 'महाभारत का उपसंहार' लिखी। द्विवेदी जी ने उसे पढ़ा। पुस्तक उन्हें बहुत ही अधिक पसंद आई और उसे उन्होंने पञ्चम वेद—महाभारत—की सभी दृष्टियों से की गई चूँडान्त समालोचना समझा। हिंदी में इस प्रकार की कोई पुस्तक न थी, अतः उसे पढ़कर उनके मन में जो भावना पैदा हुई उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए—

"इस पुस्तक के पढ़कर हमारे मन में यह भावना हुई कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाता तो अपनी भाषा के साहित्य में एक अमूल्य ग्रंथ की संपत्ति हो जाती।"

—सरस्वती (भा० २६, सं० ५ पृ० ५२२)

वाल्मीकि-रामायण की भी इस प्रकार की कोई समालोचनात्मक पुस्तक न थी। यह कभी भी द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। हिंदी के लेखकों से उन्होंने इसको पूरा करने की

थे। 'हिंदी-विश्वकोप'-नामक ग्रंथ के पहले खंड की एक कापी द्विवेदी जी के पास भेजी गई। साथ में एक पत्र भी था। यह अँगरेजी में लिखा था। यह बात सन् १९३७ की है। द्विवेदी जी इस समय संपादक नहीं थे। उन्होंने कोव की समालोचना 'सरस्वती' में प्रकाशित कराई और उसमें साथ के अँगरेजी पत्र का जिक्र कर दिया।

उच्च कोटि की जो पुस्तकें द्विवेदी जो दूसरी भाषा में पढ़ते थे उन्हें अपनी भाषा में लिखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए कई बार उन्होंने प्रयत्न भी किया।

'उज्जैन के सूवा या सर-सूवा' रायवहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० वी० ने एक पुस्तक 'महाभारत का उपसंहार' लिखी। द्विवेदी जी ने उसे पढ़ा। पुस्तक उन्हें बहुत ही अधिक पसंद आई और उसे उन्होंने पञ्चम वेद—महाभारत—की सभी हातियों से की गई चूड़ान्त समालोचना समझा। हिंदी में इस प्रकार की कोई पुस्तक न थी, अतः उसे पढ़कर उनके मन में जो भावना पैदा हुई उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए—

"इस पुस्तक वे। पढ़कर हमारे मन में यह भावना हुई कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाता तो अपनी भाषा के साहित्य में एक अमूर्य ग्रथ की संपन्नता हो जाती।"

—सरस्वती (भा० २६ मं० ५ पृ० ५२२)

वाल्मीकि-रामायण की भी इस प्रकार को कोई समालोचनात्मक पुस्तक न थी। यह कमी भी द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। हिंदी के लेखकों से उन्होंने इसको पूरा करने की

दता है—उसे किसी का डर नहीं। बहुत दिन की बात नहीं है, जब एक महाशय ने बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को एक फ़श अँगरेज़ी में लिखा था। टंडन जी का उत्तर हिंदी में ही आया और उसका पहला वाक्य था—

“आपका अँगरेज़ी भाषा में लिखा हुआ पत्र मिला। धन्यवाद।”

लेखक महाशय बी० ए० थे, व्यंग्य समझे और कटकर रह गये। यही द्विवेदी जो भी चाहते थे कि जो वडे अँगरेज़ीदाँ बनते हैं वे अपनी मातृभाषा के प्रति अपना कर्तव्य समझ जायँ। वे अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हुए। हिंदी-भाषा-भाषियों ने अपना कर्तव्य समझा और हिंदी-प्रचार भी हुआ। पर द्विवेदी जी को सन्तोष न हुआ। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं होती थी, हिंदी का अध्ययन करता था तो द्विवेदी जी फूले नहीं समाते थे। उनकी यह प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। सन् १९०१ में उन्होंने एक पत्र श्रीयुत सदाशिव रघुनाथ भागवत को लिखा था। यह पत्र इस प्रकार है—

१० जनवरी, १९०१  
भाँसी

प्रिय महाशय,

आपका कृपापत्र आया। अत्यानंद हुआ। यह जानकर आश्रय होता है कि आपकी मातृभाषा मराठी होकर, आपने हिंदी में इतना अभ्यास किया है। यही नहीं, किंतु आप हिंदी में कविता भी कर सकते हैं। आपकी विद्याभिसंचि प्रशंसनीय है। यदि ज्वालियर आने का अवसर प्राप्त होगा, तो इस आपसे अवश्य मिलेंगे + एक ‘नागरी’

दृता है—उसे किसी का डर नहीं। वहुत दिन की बात नहीं है, जब एक महाशय ने बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को एक पश्च अँगरेजी में लिखा था। टंडन जी का उत्तर हिंदी में ही आया और उसका पहला बाक्य था—

“आपका अँगरेजी भाषा में लिखा हुआ पत्र मिला। धन्यवाद।”

लेखक महाशय बी० ए० थे, व्यंग्य समझे और कटकर रह गये। यही द्विवेदी जी भी चाहते थे कि जो बड़े अँगरेजीदाँ बनते हैं वे अपनी मातृभाषा के प्रति अपना कर्तव्य समझ जायँ। वे अपने प्रयत्न में वहुत कुछ सफल हुए। हिंदी-भाषा-भाषियों ने अपना कर्तव्य समझा और हिंदी-प्रचार भी हुआ। पर द्विवेदी जी को सन्तोष न हुआ। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं होती थी, हिंदी का अध्ययन करता था तो द्विवेदी जी फूले नहीं समाते थे। उनकी यह प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। सन् १९०१ में उन्होंने एक पत्र श्रीयुत सदाशिव रघुनाथ भागवत को लिखा था। यह पत्र इस प्रकार है—

१० जनवरी, १९०१  
झाँसी

प्रिय महाशय,

आपका कृपापत्र आया। अत्यानंद हुआ। यह जानकर आश्रय होता है कि आपकी मातृभाषा मराठी होकर, आपने हिंदी में इतना अभ्यास किया है। यही नहीं, किंतु आप हिंदी में कविता भी कर सकते हैं। आपकी विद्याभिरुचि प्रशंसनीय है। यदि ग्वालियर आने का अवसर प्राप्त होगा, तो इम आपसे अवश्य मिलेंगे + एक 'नागरी'

यहाँ एक शंका की जा सकती है। जिस हिंदी की उन्नति के लिए वे दिन-रात प्रयत्नशील रहते थे उसी मात्रभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, की सेवाओं और कार्यों की वे कटु आलोचना क्यों किया करते थे। वास्तव में द्विवेदी जी सभा के उद्देश्य को बड़े आदर की हृषि से देखा करते थे और उसके जन्मदाता बाबू श्यामसुंदरदास जी का भी बड़ा सम्मान किया करते थे। इसके लिए सभा के मंत्री बाबू राधाकृष्णदास ने २४-१-१९६६ को धन्यवाद का एक पत्र भी द्विवेदी जी को लिखा था। बाद में जब सभा के कार्यकर्ताओं में ही कुछ मनमुटाव और किसी सीमा तक स्वार्थपरता का भाव आगया तब वे उसके विरुद्ध हो गये। इस बात को वे स्वयं 'सरस्वती' में लिख चुके हैं। अस्तु !

आज देश में हिंदी-प्रचार के लिए व्यापक आनंदोलन हो रहा है और साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की चेष्टा भी की जा रही है। इसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। वास्तव में वे हिंदी के निष्काम साधक थे। उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिया। एक महाशय के विषय में कहा जाता है कि उन्हें चौबीसों घंटे देश का ध्यान रहता था; हम भी कह सकते हैं कि द्विवेदी जी चौबीसों घंटे हिंदी के हित की बात सोचा करते थे।

यहाँ एक शंका की जा सकती है। जिस हिंदी की उन्नति के लिए वे दिन-रात प्रयत्नशील रहते थे उसी मात्रभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, की सेवाओं और कार्यों की वे कदु आलोचना क्यों किया करते थे। वास्तव में द्विवेदी जी सभा के उद्देश्य को बड़े आदर की दृष्टि से देखा करते थे और उसके जन्मदाता बाबू श्यामसुंदरदास जी का भी बड़ा सम्मान किया करते थे। इसके लिए सभा के मंत्री बाबू राधाकृष्णदास ने २४-१-१९६६ को धन्यवाद का एक पत्र भी द्विवेदी जी को लिखा था। वाद में जब सभा के कार्यकर्ताओं में ही कुछ मनमुटाव और किसी सीमा तक स्वार्थपरता का भाव आगया तब वे उसके विरुद्ध हो गये। इस बात को वे स्वयं 'सरस्वती' में लिख चुके हैं। अस्तु !

आज देश में हिंदी-प्रचार के लिए व्यापक आन्दोलन हो रहा है और साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की चेष्टा भी की जा रही है। इसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। वास्तव में वे हिंदी के निष्काम साधक थे। उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अपेण कर दिया। एक महाशय के विषय में कहा जाता है कि उन्हें चौबीसों घंटे देश का ध्यान रहता था; हम भी कह सकते हैं कि द्विवेदी जी चौबीसों घंटे हिंदी के हित की बात सोचा करते थे।

यह बुद्धापे के समय का पंडित हरिभाऊ उपाध्याय के देखे हुए व्यक्तित्व का वर्णन है। इसी को दूसरी आँखों से देखिए—

“लंबा क़द, विशाल और रोबदार चेहरा, उच्चत ललाट, गौर वर्ण, सिंह के समान अस्त-व्यस्त फैली हुई बड़ी-बड़ी मूँछें और असाधारण घनी घनी भैंहें—द्विवेदी जी को देखकर एक महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव तो होता ही है, यह भी जान पड़ता है कि हम कौन के किसी रिटायर्ड<sup>१</sup> कमाण्डर के सामने खड़े हैं, जो युगों से धारा के प्रवाह को अपनी गोद में लेकर उछाल देता रहा हो, और जिसका युगों का संचय काई के रूप में बुद्धापे के केवल थोड़े से पद-विहङ्ग हों—उसकी कठोरता वैसी ही बनी हो, उसकी थपेड़ों से लहरें अब भी मुड़-मुड़कर बहती हों। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में हमें एक ऐसे कुशल सेनानायक के गुणों की मिलती हैं, जिसके जीवन का सुख्य तत्त्व अनुशासन रहा हो। वह यदि युद्ध के चैत्र में होते, तो सेनाओं का संचालन करते। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में आये, तो उन्होंने बीस वर्ष तक उसकी डिक्टेटरिप अपने हाथ में रखी।”

लगभग चालीस वर्ष पहले उनकी स्थिति साधारण ही थी। मामूली गृहस्थों की तरह रहते थे और रेल के बाबुओं की तरह कोट-पतलून पहनते थे। उस समय भी लोग अपने सामने कोट-पतलून डाटे एक ‘जाएंट’ को देखा करते थे। उनका वह तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल रोबदार चेहरा और उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी भैंहों के नीचे तेजपूर्ण नेत्रों की...मर्मवेधिनी दृष्टि देखकर दूसरे सहम-से जाते थे। यद्यपि बुद्धापे में उनके चेहरे पर वह कान्ति और नेत्रों में वह ज्योति नहीं रही थी, तथापि उनकी सौम्य आकृति वैसा ही प्रभाव डालनेवाली अन्तिम दिनों तक बनी रही थी।

यह बुद्धापे के समय का पंडित हरिभाऊ उपाध्याय के देखे हुए व्यक्तित्व का वर्णन है। इसी को दूसरी आँखों से देखिए—

“लंबा क़द, विशाल और रोबदार चेहरा, उच्चत ललाट, गौर वर्ण, सिंह के समान अस्त-व्यस्त फैली हुई बड़ी-बड़ी मूँछें और असाधारण घनी घनी भैंहें—द्विवेदी जी को देखकर एक महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव तो होता ही है, यह भी जान पड़ता है कि हम फौज के किसी रिटायर्ड कमारेडर के सामने खड़े हैं, जो युगों से धारा के प्रवाह को अपनी गोद में लेकर उछाल देता रहा हो, और जिसना युगों का संचय काई के रूप में बुद्धापे के केवल थोड़े से पद-विहङ्ग हों—उसकी कठोरता वैसी ही बनी हो, उसकी थपेड़ों से लहरें अब भी मुड़-मुड़कर बहती हों। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में हमें एक ऐसे कुशल सेनानायक के गुणों की भलक मिलती है, जिसके जीवन का मुख्य तत्त्व अनुशासन रहा हो। वह यदि युद्ध के ज्ञेत्र में होते, तो सेनाओं का संचालन करते। हिंदी के साहित्य-ज्ञेत्र में आये, तो उन्होंने बीस वर्ष तक उसकी डिक्टेटरशिप अपने हाथ में रखी।”

लगभग चालीस वर्ष पहले उनकी स्थिति साधारण ही थी। मामूली गृहस्थों की तरह रहते थे और रेल के बाबुओं की तरह कोट-पतलून पहनते थे। उस समय भी लोग अपने सामने कोट-पतलून ढाटे एक ‘जाएंट’ को देखा करते थे। उनका वह तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल रोबदार चेहरा और उच्चत ललाट, बड़ी-बड़ी भैंहों के नीचे तेजपूर्ण नेत्रों की...मर्मवेधिनी दृष्टि देखकर दूसरे सहम-से जाते थे। यद्यपि बुद्धापे में उनके चेहरे पर वह कान्ति और नेत्रों में वह ज्योति नहीं रही थी, तथापि उनकी सौम्य आकृति वैसा ही प्रभाव डालनेवाली अन्तिम दिनों तक बनी रही थी।

पंचायत के सरपंच भी थे। पहले वे आनंदरी मुंसिक थे, लेकिन अब कई वर्षों से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई थी। मुकदमों की कुल कारवाई वे हिंदी में ही लिखते थे। जिस दिन मुकदमे इत्यादि नहीं पेश होते, उस दिन थोड़ा-सा आराम करके अखबार ही पढ़ा करते थे। कभी-कभी दोपहर को लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते थे। नींद तो उन्हें रात में भी बहुत कम आती थी। दिन में तो शायद ही कभी सोते हों। उन्निद्र रोग से वे सदैव पीड़ित रहे। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बागों व खेतों की ओर घूमने जाते थे। मार्ग में गरीब किसान मिल जाते थे। द्विवेदी जी उनसे, उनकी ही भाषा में, खेती-किसानी के विषय में बड़ी देर तक वातें किया करते थे। शाम को घूम-फिरकर थोड़ी देर तक दरवाजे पर बैठते थे। कोई आँगना तो उनसे वातें किया करते थे। इसके बाद शीघ्र ही सो जाने को ऊपर चले जाते थे।

यह थी द्विवेदी जी की वैधी हुई दिनचर्या। वृद्धावस्था में वे अपने गाँव से बहुत कम निकलते थे। परंतु जब वे 'सरस्वती' के संपादक थे तब भी उनका दैनिक जीवन और कार्यक्रम निश्चित रहता था और वे सब काम समय पर ही किया करते थे। वहाँ तक कि उनके दैनिक जीवन और कार्य-क्रम से परिचित रहनेवाला व्यक्ति निःसंदेह यह बता सकता था कि अमुक समय में द्विवेदी जी अमुक कार्य कर रहे होंगे और अमुक स्थान पर मिलेंगे। उनकी वक्त की पाबंदी और कर्तव्य-पालन की दृढ़ता देखकर एक बार स्वर्गीय वाबू चिंतामणि घोप ने उन्हों से कहा था—हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक्त के पाबंद और कर्तव्य-पालन के विषय में दृढ़-प्रतिज्ञा दो ही आदमी देखे हैं; एक तो रामानंद वाबू और दूसरे आप।

पंचायत के सरपंच भी थे। पहले वे आनरेरी मुंसिफ़ थे, लेकिन अब कई वर्षों से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई थी। मुकदमों की कुल काररवाई वे हिंदी में ही लिखते थे। जिस दिन मुकदमे इत्यादि नहीं पेश होते, उस दिन थोड़ा-सा आराम करके अख्लावार ही पढ़ा करते थे। कभी-कभी दोपहर को लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते थे। नींद तो उन्हें रात में भी बहुत कम आती थी। दिन में तो शायद ही कभी सोते हों। उन्निद्र रोग से वे सदैव पीड़ित रहे। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बागों व खेतों की ओर घूमने जाते थे। मार्ग में गरीब किसान मिल जाते थे। द्विवेदी जी उनसे, उनकी ही भाषा में, खेती-किसानी के विषय में बड़ी देर तक बातें किया करते थे। शाम को घूम-फिरकर थोड़ी देर तक दरवाजे पर बैठते थे। कोई आ गया तो उससे बातें किया करते थे। इसके बाद शीघ्र ही सो जाने को ऊपर चले जाते थे।

यह थी द्विवेदी जी की वँधी हुई दिनचर्या। वृद्धावस्था में वे अपने गाँव से बहुत कम निकलते थे। परंतु जब वे 'सरस्वती' के संपादक थे तब भी उनका दैनिक जीवन और कार्यक्रम निश्चित रहता था और वे सब काम समय पर ही किया करते थे। यहाँ तक कि उनके दैनिक जीवन और कार्य-क्रम से परिचित रहनेवाला व्यक्ति निःसंदेह यह बता सकता था कि अमुक समय में द्विवेदी जी अमुक कार्य कर रहे होंगे और अमुक स्थान पर मिलेंगे। उनकी वक्त़ की पाबंदी और कर्तव्य-पालन की दृढ़ता देखकर एक बार स्वर्गीय वावू चिंतामणि घोप ने उन्हीं से कहा था—हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक्त़ के पाबंद और कर्तव्य-पालन के विषय में दृढ़-प्रतिज्ञा दी ही आदमी देखे हैं; एक तो रामानंद वावू और दूसरे आप।

भावुक, प्रतिभाशाली और शिष्ट लेखक थे। उन्हें सभा के उद्देश्य और आदर्श से पूर्ण सहानुभूति थी; परंतु सभा के तत्कालीन कार्यकर्त्ताओं की नीति उन्हें पसंद नहीं थी। पर उन्होंने किसी पर अपने लेख में आक्षेप नहीं किया। फिर भी पंडित केदारनाथ जी पाठक ने जाकर उनसे पहला प्रश्न यही किया कि सभा के कार्यों की जो कड़ी आलोचना की है उसका हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या ‘विपस्य विपमौपधम्’ की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ?

द्विवेदी जी ने मुस्कराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—देवता ! ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ। और एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल लाकर सामने रख दिया तथा एक मोटी लाठी भी साथ लेते आये। तत्पञ्चात् उन्होंने कहा—सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ। तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। यह थी सरलता की कोमलता, जिसने पाठक जी को पानी-पानी कर दिया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय में अद्वा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा।

आम खाने का शौक उन्हें आरंभ से ही था। उन्होंने कई आम के पेड़ स्वयं लगाये थे। सन् १८८५ के लगभग वे हुशंगावाद के रेलवे स्टेशन पर थे। स्टेशन के पास ही एक बँगले के आँगन में उन्होंने बंबई के ‘हाउस’ नाम के कलमी आम की एक गुठली गाढ़ दी। उससे पौधा निकला। १५-२० वर्ष बाद द्विवेदी जी फिर एक बार उधर से निकले, तब स्टेशन

भावुक, प्रतिभाशाली और शिष्ट लेखक थे। उन्हें सभा के उद्देश्य और आदर्श से पूर्ण सहानुभूति थी; परंतु सभा के तत्कालीन कार्यकर्त्ताओं की नीति उन्हें पसंद नहीं थी। पर उन्होंने किसी पर अपने लेख में आक्षेप नहीं किया। फिर भी पंडित केदारनाथ जी पाठक ने जाकर उनसे पहला प्रश्न यही किया कि सभा के कार्यों की जो कड़ी आलोचना की है उसका हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या 'विपस्य विपमौपधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ?

द्विवेदी जी ने मुस्कराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—देवता ! ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ। और एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल लाकर सामने रख दिया तथा एक मोटी लाठी भी साथ लेते आये। तत्पञ्चात् उन्होंने कहा—सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ। तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। यह थी सरलता की कोमलता, जिसने पाठक जी को पानी-पानी कर दिया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा।

आम खाने का शौक उन्हें आरंभ से ही था। उन्होंने कई आम के पेड़ स्वयं लगाये थे। सन् १८८५ के लगभग वे हुशंगावाद के रेलवे स्टेशन पर थे। स्टेशन के पास ही एक बँगले के आँगन में उन्होंने बंवई के 'हाउस' नाम के कलमी आम की एक गुठली गाड़ दी। उससे पौधा निकला। १५-२० वर्ष बाद द्विवेदी जी फिर एक बार उधर से निकले, तब स्टेशन

उनका पुस्तकालय भी था, प्रवेश किया। मेरे द्वारा बहर्छ अन्य दोनों सज्जनों का परिचय पाकर वे विशेष प्रसङ्ग हुए और हम लोगों ने साहित्य-संवर्धी वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने हम लोगों को जलपान प्रयाप्त और पान दिये। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक हम लोग द्विवेदी जी के सतर्संग में आनंद मनाते रहे। अंत में हम लोगों के विश्वासे लेने पर आप सहक तक हम सबको भेजते आये और आदर-सरकार की श्रुतियों के लिए उमा माँगी।

स्वर्गवासी द्विवेदी जी शिष्याचार के पूरे पालक थे, अतएव उन्हें किसी की थोड़ी भी अशिष्टता सहन नहीं होती थी। पूर्वोक्त अवसर पर जब द्विवेदी जी कुछ कह रहे थे तब मैं भूल से थीच में कुछ खड़ गया। इस पर उन्होंने कुछ रुखे होकर कहा कि आपके साथ वातचीत करना कठिन है! मैं नत-मस्तक होकर रह गया। द्विवेदी जी का स्वभाव जितना दयालु था उतना ही उत्र भी था, मानो वे 'साँसति करि पुनि करहि' 'पसाक'। अनधिकारी लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उनके मन में न्यानि होती थी। वे पत्रों का उत्तर वहुधा लौटती ढाक से देते थे और जो उनके पत्र वा उत्तर नहीं देता था उसे वे असभ्य समझते थे तथा उसकी अवहेलना को शपना अपमान मानते थे।”

द्विवेदी जी का यह दस्तूर था कि जो कोई भी उनसे मिलने जाता उसे अपनी डिविया से दो पान भेंट करते और वातचीत समाप्त कर लेने पर दो पान और भेंट करते, जो इस वात का इशारा था कि वस अब आप तशरीफ ले जाइए जैसा कि महात्मा गांधी भी वातचीत समाप्त करने पर कह देते हैं कि 'वस खलास।' इससे यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी व्यर्थ की वकवास और समय का नष्ट करना परसंद नहीं करते थे। उन्होंने कभी शत्रुता को उभारने की कोशिश नहीं की और न

उनका पुस्तकालय भी था, प्रवेश किया। मेरे द्वारा घट्ट अन्य दोनों सज्जनों का परिचय पाकर वे विशेष प्रसंग हुए और हम लोगों से साहित्य-संबंधी वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने हम लोगों को जलपान फराया और पान दिये। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक हम लोग द्विवेदी जी के सत्संग में आनंद मनाते रहे। अंत में हम लोगों के विदा लेने पर आप सदृक तक हम सबको भेजने आये और आदर-सत्कार की श्रुतियों के लिए छापा माँगी।

स्वर्गवासी द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे, अतएव उन्हें किसी की ओँडो भी अशिष्टता सम्म नहीं होती थी। पूर्वोक्त अवसर पर जब द्विवेदी जी कुछ कह रहे थे तब मैं भूल से बीच में कुछ कह गया। इस पर उन्होंने कुछ रुखे होकर कहा कि आपके साथ वातचीत करना कठिन है! मैं नत-मस्तक होकर रह गया। द्विवेदी जी का स्वभाव जितना दयालु था उतना ही उम्र भी था, मानो वे 'सौंसति करि पुनि करहि' पसाक'। अनधिकारी लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उनके मन में खानि होती थी। वे पत्रों का उत्तर बहुधा लौटती ढाक से देते थे और जो उनके पत्र वा उत्तर नहीं देता था उसे वे असभ्य समझते थे तथा उसकी 'अवहेलना' को अपना अपमान मानते थे।"

द्विवेदी जी का यह दस्तूर था कि जो कोई भी उनसे मिलने जाता उसे अपनी डिविया से दो पान भेंट करते और वातचीत समाप्त कर लेने पर दो पान और भेंट करते, जो इस वात का इशारा था कि वस अब आप तशरीक ले जाइए जैसा कि महात्मा गांधी भी वातचीत समाप्त करने पर कह देते हैं कि 'वस खलास।' इससे यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी व्यर्थ की वकवास और समय का नष्ट करना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने कभी शत्रुता को उभारने की कोशिश नहीं की और न

प्रतिदिन लिखिंगे अवश्य। उस समय वे रेलवे के कर्मचारी थे और १० बजे से शास के ६ बजे तक जुटकर काम करना पड़ता था। प्रतिदिन का काम समाप्त करके ही वे घर आते थे। इसलिए कभी-कभी बहुत रात तक काम करना पड़ता था। ऐसे दिन लिखने का काम—प्रण निभाना कठिन हो जाता था। पर इसमें शायद ही कभी व्यतिकरण हुआ हो। जिस दिन देर हो जानी थी, वे विंडो-रोट संशान पर बैठकर ही एक घंटा लिख लिया करते थे और तब वर आते थे। 'सरस्वती' का काम करने हुए भी लिखने के लिए उन्हें इसी प्रकार हड्ड रखना पड़ता था। यदि वे ऐसा न करने तो क्या यह संभव था कि संपादन का कार्य करके भी लगभग ५० पृष्ठ प्रतिमास लिख डालते। इसी प्रकार यदि वे किसी के घर आने का वादा कर लेने थे तो उसे अवश्य ही निभाते थे; लू-लपट और वर्षा की ओराह में उन्हें रोक लेने की ज़माना नहीं थी। वे जाते भी ऐसे ही लोगों को थे जो वादा करके उसे पूरा करना जानते थे। यदि कोई वादाखिता हो करता था तो उसे बुरी तरह फटकार दिया करते थे। लोग इससे कभी-कभी अप्रसन्न भी हो जाते थे; पर द्वितीय जी ने कभी इसकी चिंता ही नहीं की—इस और भी वे सदैव हड्ड ही रहे।

### पंचायत

द्वितीय जी अपने गाँव की पंचायत के सदस्य थे। उनकी पंचायत में किसी का भी मुक़द्दमा आ जाय परंतु वे अपनी न्यायप्रियता और सप्तवादिता कभी नहीं छोड़ते थे; चाहे उन्हें अपने हाथ से अपने किसी मंवंवी को ही दंड देना पड़े, परंतु वे अंतःकरण से ठीक ही काम करेंगे। प्रह्ले वे प्रानरेणी मुसिक थे। उस समय भी उनका कार्य-क्रम ऐसा ही रहता

प्रतिदिन लिखने अवश्य। उस समय वे रेलवे के कर्मचारी थे और १० बजे से शाम के ६ बजे तक जुटकर काम करना पड़ता था। प्रतिदिन का काम समाप्त करके ही वे घर आते थे। इसलिए कभी-कभी बहुत रात तक काम करना पड़ता था। ऐसे दिन लिखने का काम—प्रण निभाना कठिन हो जाता था। पर इसमें शायद ही कभी व्यनिकम उआ हो। जिस दिन देर हो जाती थी, वे विंडफीरोट स्टेशन पर बैठकर ही एक घंटा लिख लिवा करते थे और नव घर आते थे। 'सरस्वती' का काम करने हुए भी लिखने के लिए उन्हें इसी प्रकार हड़ रहना पड़ता था। यदि वे ऐसा न करने तो क्या यह संभव था कि संपादन का कार्य करके भी लगभग ५० पृष्ठ प्रतिगाम लिख डालते। इनी प्रकार यदि वे किसी के घर आने का बादा कर लेने थे तो उसे अवश्य ही निभाते थे; लू-लपट और यर्पा की ओराह में उन्हें रोक लेने की ज़मत नहीं थी। वे जाह्ने भी ऐसे ही लोगों को थे ज़ा बादा करके उसे पूरा करना जानते थे। यदि कोई बादाज़िता ही करता था तो उसे बुरी तरह फटकार दिया करते थे। लोग इससे कभी-कभी अप्रसन्न भी हो जाते थे; पर द्विवेदी जी ने कभी इसकी निंता ही नहीं की—इस और भी वे सदैव हड़ ही रहे।

### पंचायत

द्विवेदी जी अपने गाँव की पंचायत के सदस्य थे। उनकी पंचायत में किसी का भी मुङ्कइसा आ जाय परंतु वे अपनी न्यायग्रियता और स्पष्टवादिता कभी नहीं छोड़ते थे; जाहे उन्हें अपने हाथ से अपने किसी संवंधी को ही दंड देना पड़े, परंतु वे अंतकरण से टीक ही काम करेंगे। पहले वे आनंदेरी मुसिक थे। उस समय भी उनका कार्यक्रम पैसा ही रहता

भी इसमें त्रुटि नहीं होने दी। इन्हीं वर्षगाँठ के अवसर पर जो उनका कृतज्ञताज्ञापन प्रकाशित हुआ था उससे भी उनकी विनम्रता का परिचय मिलता है। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—

“किसी किसी ने मेरी सरसठबीं वर्षगाँठ मनाई है। जान पढ़ता है, हन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वात्सल्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है।”

उनके इस ज्ञापन पर श्रीयुत शिवपूजनसहाय (जागरण-संपादक) ने ४ जून, १९३२ (ज्येष्ठ सं० १९३६) में यह लिखा था—

“लेकिन उन सज्जनों का हृष्टमें कोई दोष नहीं। आराध्यदेव की सेवा में तत्पर श्रद्धालु भक्त कभी-कभी इतना तन्मय हो जाता है कि गले की माला चरणों पर ही हाथ से छुट पड़ती है। अस्तु।”

‘सरस्वती’-संपादन-कार्य से छुट्टी लेते समय ‘संपादक’ की विदाई-शोर्पक जो लेख द्विवेदी जी ने लिखा है, वह भी विनम्रता का अच्छा नमूना है।

### सादगी

रेलवे में बाबू की हैसियत से द्विवेदी जी कोट और पतलून पहना करते थे। ‘सरस्वती’ का काम करने पर भी कुछ दिन तक वे यहीं पोशाक पहनते रहे। पर उनकी यह पोशाक देशी कपड़े की होती थी और उनकी रहन-सहन विलक्षण सादी थी। बाद को उन्होंने पतलून को भी त्याग दिया। उनके सिर पर चार-छः आने की मामूली टोपी रहती थी और बड़न पर एक साधारण

भी इसमें त्रुटि नहीं होने दी। दूनवीं वर्षगाँठ के अवसर पर जो उनका कृतज्ञताज्ञापन प्रकाशित हुआ था उससे भी उनकी विनम्रता का परिचय मिलता है। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—

“किसी किसी ने मेरी सरसठीं वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है, इन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वात्सल्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है।”

उनके इस ज्ञापन पर श्रीयुत शिवपूजनसहाय (जागरण-संपादक) ने ४ जून, १९३२ (ज्येष्ठ सं० १९८६) में यह लिखा था—

“लेकिन उन सज्जनों का इष्टमें कोई दोष नहीं। आराध्यदेव की सेवा में तरपर अद्वालु भक्तकभी-कभी इतना तन्मय हो जाता है कि गले की माला चरणों पर ही हाथ से छुट पड़ती है। अस्तु।”

‘सरस्वती’-संपादन-कार्य से छुट्टी लेते समय ‘संपादक की विदाई’-शोर्पूरु जो लेख द्विवेदी जी ने लिखा है, वह भी विनम्रता का अच्छा नमूना है।

### सादगी

रेलवे में वायू की हैसियत से द्विवेदी जी कोट और पतलून पहना करते थे। ‘सरस्वती’ का काम करने पर भी कुछ दिन तक वे यही पोशाक पहनते रहे। पर उनकी यह पोशाक देशी कपड़े की होती थी और उनकी रहन-सहन विलकुल सादी थी। वाद को उन्होंने पतलून को भी त्याग दिया। उनके सिर पर चार-छः आने की मामूली टोपी रहती थी और बदन पर एक साधारण

रक्खा। उन पर तरह-तरह के कष्ट पड़े; पर वे कभी विचलित न हुए और न दूसरों के आगे अपना रोना ही रोया। वे अपनी माता जी पर अधिक भक्ति रखते थे। कालांतर में उनका स्वर्गवास हुआ। अपनी स्त्री से उन्हें बहुत प्रेम था। थोड़ी ही अवस्था में वे भी इनको अकेला छोड़ गईं। इसी प्रकार कई अन्य संवधियों का भी विछोह हुआ। हृदय पर पथर रखकर द्विवेदी जी ने सब सहा; पर मुँह से उफ नहीं की।

### व्यवस्था और नियमन

सुनते हैं, बाल्टर स्काट जिस कमरे में बैठकर लिखा करते थे वह गंदी गली में था और उस कमरे में कभी सकाई नहीं होती थी। बात ठीक हो या न हो, पर इससे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि वह व्यवस्था-प्रिय न था, आलसी था। द्विवेदी जी को इस प्रकार की अव्यवस्था बिलकुल पसन्द नहीं थी। वे स्वयं सब सकाई अपने हाथ से करते थे। घर में जो चीज़ जहाँ रखी जाती है वह वहीं अपने स्थान पर रखती जानी चाहिए। टोपी या छड़ी रखने की जगह पर कोट या जूते नहीं रखते जा सकते थे। इसी प्रकार वे पुस्तकों को भी निश्चित स्थान पर ही रखते थे। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह से हट या गायब हो जाती थी तो उन्हें तुरंत मालूम हो जाता कि कोई गड़बड़ हुआ है। वे घरवालों से पूछताछ कर तुरंत पता लगा लेते थे। पुस्तकों की संकाई तो वे बृद्धावस्था में भी रोज करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। गाँव में पुस्तक केवल उन्हीं लोगों को देते थे जिनके घारे में यह जानते थे कि ये पुस्तक पढ़कर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति उनसे पुस्तक ले जाता था उसे निश्चित समय में ज्यों की त्यों वापस करनी पड़ती थी। द्विवेदी जी की सुव्यवस्था का प्रभाव

खाला। उन पर तरह-तरह के कष्ट पड़े; पर वे कभी विचलित हुए और न दूसरों के आगे असना रोना ही रोया। वे अपनी जी पर अधिक भक्ति रखते थे। कालांतर में उनका स्वर्ग-स हुआ। अपनी खी से उन्हें बहुत प्रेम था। थोड़ी ही अवस्था वे भी इनको अकेला छोड़ गईं। इसी प्रकार कई अन्य संवर्यों का भी विद्वोह हुआ। हृदय पर पत्थर रखकर द्विवेदी जी सब सहा; पर मुँह से उफ नहीं की।

### व्यवस्था और नियमन

सुनते हैं, बाल्टर स्काट जिस कमरे में बैठकर लिखा करते वह गंदी गली में था और उस कमरे में कभी सकाई होती थी। वात ठीक हो या न हो, पर इससे यह ध्वनि श्य निकलती है कि वह व्यवस्था-प्रिय न था, आलसी। द्विवेदी जी को इस प्रकार की अव्यवस्था विलकुल पसन्द थी। वे स्वयं सब सकाई अपने हाथ से करते थे। घर तो चीज़ जहाँ रखती जाती है वह वहीं अपने स्थान पर खी जानी चाहिए। टोपी या छड़ी रखने की जगह पर कोट जूते नहीं रखते जा सकते थे। इसी प्रकार वे पुस्तकों को भी चेत स्थान पर ही रखते थे। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह ट या गायब हो जाती थी तो उन्हें तुरंत मालूम हो जाता गई गड़बड़ हुआ है। वे घरवालों से पूछताछ कर तुरंत लगा लेते थे। पुस्तकों की संकाई तो वे वृद्धावस्था में भी करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। में पुस्तक केवल उन्हीं लोगों को देते थे जिनके बारे में जानते थे कि ये पुस्तक पढ़कर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति पुस्तक ले जाता था उसे निश्चित समय में ज्यों की त्यों त करनी पड़ती थी। द्विवेदी जी की सुव्यवस्था का प्रभाव

धर्मपत्नी ने थाली में खाद्य पदार्थ उस सिलसिले में नहीं रखवे थे जिसमें द्विवेदी जी नित्यप्रति रखवाते थे, अतएव उनको भी स्नेह-मिश्रित भर्त्सना सुननी पड़ी ।”

द्विवेदी जी की सफाई और व्यवस्था-प्रेम का पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने बड़ा सुन्दर चित्र निम्न शब्दों में खींचा है—

“धर के सामने पका कुर्याँ, छोटी-सी फुलवाही, अगल-बगल में हिंदी-पाठशाला, ढाकघर, अतिविशाला, गोशाला, सब उसी घर से मिले हुए छोटे दायरे में थे । सामने ही मैदान में एक ओर एक पका चबूतरा और उस पर छोटा-सा महावीर जी का मंदिर, फिर मारा जी (आचार्य-पत्नी) का मंदिर, फिर एक बड़ा-सा गहरा तालाब ! प्रथम दर्शन में ही उस बीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थस्थान-सा दिखाई दिया । मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर पादत्राण बाहर उत्तार एकदम आचार्य के बैठके में घुस गया । आप एक बंडी पहने हुए, बिलकुल देहाती—वज्र गवाँर-से—एक छोटा-सा झाड़न लिये आत्मारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे । पुस्तकों में धूल चढ़ी हुई नहीं थी; पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफाई का काम करते और देखते थे । तमाम कमरा साफ़, सामान साफ़, जहाँ का तहाँ बालायदा । बाहर चबूतरा बिलकुल साफ़ भाइंडा हुआ !

आचार्य छोटा-सा झाड़न लिये सिर झुकाये कितावें भाड़ रहे थे । मैं एकदम गया, और पैर छुए । आपने सिर ऊपर उठाया; आर मेरी ओर अपनी स्वाभाविक ललदगंभीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई ध्वनि से बैल उठे—‘लक्ष्मीधर !’ एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गये । मैं बाहर तालाब की तरफ जाकर जंगल की तरफ हधर-उधर देखने लगा । पाँच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाजे

धर्मपत्नी ने थाली में खाद्य पदार्थ उस सिलसिले में नहीं रखे थे जिसमें द्विवेदी जी नित्यप्रति रखवाते थे, अतएव उनको भी स्नेह-मिश्रित भर्त्यना सुननी पड़ी ।”

द्विवेदी जी की सफाई और व्यवस्था-प्रेम का पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने बड़ा सुन्दर चित्र निम्न शब्दों में खीचा है—

“धर के सामने पका कुआँ, छोटी-सी फुलवाही, अगल-बगल में हिंदी-पाठशाला, डाकघर, अतिविशाला, गोशाला, सब उसी धर से मिले हुए छोटे दायरे में थे । सामने ही मैदान में एक और एक पका चबूतरा और उस पर छोटा-सा महावीर जी का मंदिर, फिर माता जी (आचार्य-पत्नी) का मंदिर, फिर एक बड़ा-सा गहरा तालाब ! प्रथम दर्शन में ही उस बीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थस्थान-सा दिखाई दिया । मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर पादत्राण बाहर उतार एकदम आचार्य के बैठके में घुस गया । आप एक बंडी पहने हुए, बिलकुल देहाती—बज्र गवाँर-से—एक छोटा-सा झाड़न लिये आलमारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे । पुस्तकों में धूल चढ़ी हुई नहीं थी; पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफाई का काम करते और देखते थे । तमाम कमरा साफ़, सामान साफ़, जहाँ का तहाँ बाक़ायदा । बाहर चबूतरा बिलकुल साफ़ भाड़ा हुआ !

आचार्य छोटा-सा झाड़न लिये सिर झुकाये किताबें भाड़ रहे थे । मैं एकदम गया, और पैर छुए । आपने सिर ऊपर उठाया; आर मेरी ओर अपनी स्वाभाविक जलदगंभीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई ध्वनि से बोल उठे—‘लक्ष्मीधर !’ एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गये । मैं बाहर तालाब की तरफ जाकर जंगल की तरफ इधर-उधर देखने लगा । पाँच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाजे

से दूसरे भी प्रसन्न हो जाते थे, किसी को दुःख नहीं होता था । उनके साथ वातचीत करने में एक विशेष प्रकार का आनंद आता था । उनकी बातों में कुछ अनोखापन और आर्कषण रहता था । प्रायः अपने संभापण में वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते थे । व्यंग्य तो उसकी जान थी और उनका व्यंग्य सारंगभित होता था । उनसे मिलने और वातचीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कुछ प्रभाव न पड़ा हो । एक बार वे अपने आफिस में अपने दो-एक मित्रों के साथ बैठे थे । डाक आई । जो लेख आये उनमें कुछ लेख विलक्षण रही थे । ऐसे लेखों के सुधारने में द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था । अतः उनके एक मित्र ने टोका—‘आप ऐसे लेख स्वीकार ही क्यों करते हैं ?’ आपने मुस्कराकर उत्तर दिया—‘द्वार पर आनेवाले का स्वागत करना हिन्दू-सात्र का धर्म है ।’ आज के संपादक उनके इस वाक्य से अपने ‘सिद्धान्त-वाक्य’ की तुलना करके देखें तो उन्हें द्विवेदी जी की महत्ता का कुछ अनुभव हो सकेगा ।

एक बार द्विवेदी जी स्वर्गीय श्रीपद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से ज्वालापुर गये । आने के पहले आपने तार दिया—“मैं आ रहा हूँ ।” सवारी का प्रबंध करना । पन्द्रह बजे (तीन बजे) दिन को पहुँचूँगा (Reaching Jubbulpore manage conveyance fifteen hours) तारबाबू ने भूल से hour की जगह horse लिख दिया, जिसका अर्थ वह निकाला गया कि १५ घोड़े की गाड़ी का प्रबंध करो । लोग बड़े परेशान हुए । जब द्विवेदी जी ज्वालापुर पहुँचे और उन्हें वह तार दिखाया गया तब उन्होंने जाकर तारबाबू से विनोदपूर्वक कहा—“वाह बाबू जी ! वाह ! खूब किया ।” बेचारा तारबाबू खिसिया गया । इसी प्रकार जब द्विवेदी-मेले के अवसर पर

से दूसरे भी प्रसन्न हो जाते थे, किसी को दुःख नहीं होता था। उनके साथ वातचीत करने में एक विशेष प्रकार का आनंद आता था। उनकी बातों में कुछ अनोखापण और आकर्षण रहता था। प्रायः अपने संभापण में वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते थे। व्यंग्य तो उसकी जान थी और उनका व्यंग्य सारगर्भित होता था। उनसे मिलने और वातचीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कुछ प्रभाव न पड़ा हो। एक बार वे अपने आफिस में अपने दो-एक मित्रों के साथ बैठे थे। डाक आई। जो लेख आये उनमें कुछ लेख विलक्षण रही थे। ऐसे लेखों के सुधारने में द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। अतः उनके एक मित्र ने टोका—आप ऐसे लेख स्वीकार ही क्यों करते हैं? आपने मुस्कराकर उत्तर दिया—‘द्वार पर आनेवाले का स्वागत करना हिन्दू-मात्र का धर्म है।’ आज के संपादक उनके इस वाक्य से अपने ‘सिद्धान्त-वाक्य’ की तुलना करके देखें तो उन्हें द्विवेदी जी की महत्ता का कुछ अनुभव हो सकेगा।

एक बार द्विवेदी जी स्वर्गीय श्रीपदमसिंह शर्मा की प्रेरणा से ज्वालापुर गये। आने के पहले आपने तार दिया—“मैं आ रहा हूँ।” सवारी का प्रबंध करना। पन्द्रह बजे (तीन बजे) दिन को पहुँचूँगा (Reaching Jubbulpore marage conveyance fifteen hours) तारबाबू ने भूल से hour की जगह horse लिख दिया, जिसका अर्थ यह निकाला गया कि १५ घोड़े की गाड़ी का प्रबंध करो। लोग बड़े परेशान हुए। जब द्विवेदी जी ज्वालापुर पहुँचे और उन्हें वह तार दिखाया गया तब उन्होंने जाकर तारबाबू से विनोदपूर्वक कहा—“वाह बाबू जी! वाह! खूब किया।” बेचारा तारबाबू खिसिया गया। इसी प्रकार जब द्विवेदी-मेले के अवसर पर

करते थे। द्विवेदी जी पत्र लिखने बैठते थे तब बाहर से कोई बच्चा पूछता था—

“वावा, का लिखत है ?”

“मुनिया का चिट्ठी लिखत है ?”

“मुन्नी—कमलाकिशोर जी की बेटी—का जानत है।”—चिट्ठी लिखते-लिखते द्विवेदी जी फिर बच्चे को छोड़ते थे।

“हाँ।”

“मुन्नी कहाँ रहति है ?”

“इलाहाबाद।”

“हाँ, जानत हो।”

और बच्चा उछलता-कूदता अपने ज्ञान पर गर्व करता चला जाता था।

द्विवेदी जी अपनी धर्म-पत्नी से भी बहुत संतुष्ट थे। पूज्य माता जी में गुण भी ऐसे ही थे। रेल की २००) की नौकरी छोड़कर जब द्विवेदी जी आये तब भी सुना जाता है, उन्होंने किसी प्रकार का असंतोष न प्रकट किया; बरन सुख और संतोष के साथ यही कहा—अगर तुम मेहनत-मज़दूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे तो मैं उसी में संतोष कर लूँगी। इन्हें द्विवेदी जी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अपनी धर्म-पत्नी की मृत्यु के समय द्विवेदी जी की अवस्था अधिक नहीं थी, कान्यकुञ्जों में एक स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह कर लेने का चलन रहा है और जब पहली स्त्री को कोई भयानक रोग हो और उनके संतान भी न होती हो तब तो दूसरा विवाह कर लेना कोई अनहोनी बात नहीं थी।

करते थे। द्विवेदी जी पत्र लिखने बैठते थे तब बाहर से कोई वच्चा पूछता था—

“वावा, का लिखत है ?”

“मुनिया का चिट्ठी लिखत है ।”

“मुन्नी—कमलाकिशोर जी की बेटी—का जानत है ।”—चिट्ठी लिखते-लिखते द्विवेदी जी फिर वच्चे को छेड़ते थे ।

“हाँ ।”

“मुन्नी कहाँ रहति है ?”

“इलाहावाद ।”

“हाँ, जानत हो ।”

और वच्चा उछलता-कूदता अपने ज्ञान पर गर्व करता चला जाता था ।

द्विवेदी जी अपनी धर्म-पत्री से भी बहुत संतुष्ट थे। पूज्य माता जी में गुण भी ऐसे ही थे। रेल की २००) की नौकरी छोड़कर जब द्विवेदी जी आये तब भी सुना जाता है, उन्होंने किसी प्रकार का असंतोष न प्रकट किया; बरन सुख और संतोष के साथ यही कहा—अगर तुम मेहनत-मज़दूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे तो मैं उसी में संतोष कर लूँगी। इन्हें द्विवेदी जी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अपनी धर्म-पत्री की मृत्यु के समय द्विवेदी जी की अवस्था अधिक नहीं थी, कान्यकुञ्जों में एक स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह कर लेने का चलन रहा है और जब पहली स्त्री को कोई भयानक रोग हो और उनके संतान भी न होती हो तब तो दूसरा विवाह कर लेना कोई अनहोनी वात नहीं थी।

वात यह थी कि आचार्य-पत्री के घर में उनके पड़ोस की उनकी एक सहेली बैठती-उठती थीं। दोनों में बड़ा प्रेम था। सहेली ने माता जी से कहा कि महावीर जी की पुरानी मूर्ति दरवाजे पर 'बुजुर्गों' की स्थापित पड़ी है, इसके लिए एक पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा था। माता जी ने उस सहेली की सलाह से चबूतरा बनवा दिया और महावीर जी के लिए वहीं एक मठिया भी। इसी पर आज उन्होंने हँसी में अपने पतिदेव से अचानक कह दिया ! उनको क्या मालूम था कि यह महावीर उनको कितना पूजते हैं ! महावीर के ऊपर भी दीवार में द्विवेदी जी के रचे हुए श्लोक खचित हैं, जिसमें माता जी और उन की सहेली की प्रशस्ति है।

द्विवेदी जी अपनी माता जी पर भी बड़ी भक्ति रखते थे। यह वात हमें श्रीपंचमानंद चतुर्वेदी नामक एक सज्जन के द्विवेदी जी को लिखे हुए एक पत्र से मालूम हुई है। पत्र ११ मार्च १९०८ को लिखा गया था। पत्र इस प्रकार है—

“द्विवेदी जी महाराज,

नमस्कार—आज भट्ट गिरिधरलाल जी सुझसे मिलने आये थे। उन्होंने आपके अंजमेर जाने का ज़िक्र किया था और उनकी वातों से यह भी पाया गया कि आपकी अपनी माता जी की तरफ अधिक भक्ति है।

११ मार्च, १९०८ परमानंद चतुर्वेदी ।”

### गुण-ग्राहकता

द्विवेदी जी में एक और गुण था। यह था उनकी गुण-ग्राहकता। संपादक हो जाने पर कुछ लोग “हमचुनी दीगरे

बात यह थी कि आचार्य-पत्री के घर में उनके पड़ोस की उनकी एक सहेली बैठती-उठती थीं। दोनों में बड़ा प्रेम था। सहेली ने माता जी से कहा कि महावीर जी की पुरानी मूर्ति दरवाजे पर बुजुर्गों की स्थापित पड़ी है, इसके लिए एक पका चबूतरा बन जाता तो अच्छा था। माता जी ने उस सहेली की सलाह से चबूतरा बनवा दिया और महावीर जी के लिए बहीं एक मठिया भी। इसी पर आज उन्होंने हँसी में अपने पतिदेव से अचानक कह दिया ! उनको क्या मालूम था कि यह महावीर उनको कितना पूजते हैं ! महावीर के ऊपर भी दीवार में द्विवेदी जी के रचे हुए श्लोक खचित हैं, जिसमें माता जी और उन की सहेली की प्रशस्ति है।

द्विवेदी जी अपनी माता जी पर भी बड़ी भक्ति रखते थे। यह बात हमें श्रीपरमानंद चतुर्वेदी नामक एक सज्जन के द्विवेदी जी को लिखे हुए एक पत्र से मालूम हुई है। पत्र ११ मार्च १९०८ को लिखा गया था। पत्र इस प्रकार है—

“द्विवेदी जी महाराज,

नमस्कार—आज भट्ट गिरिधरलाल जी मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने आपके अन्नमेर जाने का ज़िक्र किया था और उनकी बातों से यह भी पाया गया कि आपकी अपनी माता जी की तरफ अधिक भक्ति है।

११ मार्च, १९०८ परमानंद चतुर्वेदी ।”

गुण-ग्राहकता

द्विवेदी जी में एक और गुण था। यह था उनकी गुण-ग्राहकता। संपादक हो जाने पर कुछ लोग “हमचुनी दीगरे

होती थीं, उनका पारेचय, बड़ी विशदता से, 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जाता था और अनेक साधुवाद-धन्यवाद देकर लेखक का आदर किया जाता था। नये विषयों की कई पुस्तकों की आलोचना 'सरस्वती' में निकली थी; पर प्रचलित विषयों की खोज करके लिखनेवाले अधिक नहीं थे। मेरा आशय हिंदी-चालों से है। हिंदी-भाषा-भाषी, लाख अनुनय-विनय करने पर भी इस ओर ध्यान न देते थे। हाँ, मराठी, वँगला के लेखक अवश्य प्रयत्नशील थे। द्विवेदी जी उनसे ही आशा रखते थे और बड़ी श्रद्धा से उनका नाम लिया करते थे। सुप्रसिद्ध मराठी-लेखक और ग्रंथकार रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० वी० के मराठी में लिखे हुए अवलोक्ति-लेख-माला के लेखों से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने लिखा था—

"उन्हें ( अवलोक्ति-लेखमाला के लेख ) पढ़कर हमारे हृदय में लेखक महाशय के विषय में श्रद्धा का अंकुर उग आया। उनके अन्यान्य ग्रंथ और लेख पढ़ते-पढ़ते वह अंकुर बढ़कर विशाल बृह हो गया। महाभारत-विषयक उनका ग्रंथ पढ़कर हमने बहुत अधिक लाभ उठाया। इस ग्रंथ में वैद्य महाशय ने महाभारत से संबंध रखनेवाले प्रायः सभी विषयों का जिस योग्यता से विचार किया है और उनकी तुलनामूलक आलोचना करने में उन्होंने जिस बुद्धिदातिशय और सद्साह्वेचना का परिचय दिया है, उसकी बार-बार प्रशंसा करने को जी चाहता है।"

हिंदी-हितैषियों और सेवकों के विषय में उनका यह आदर-भाव और भी बढ़ा-चढ़ा था। यह स्वाभाविक था और उनकी प्रशंसा में लिखे हुए विचार उनके हृदय से निकले हुए होते थे। इसका एक उदाहरण आज से ३५ वर्ष पहले का है। 'सरस्वती' के संपादक होने के पहले ही वारू श्यामसुन्दरदास की हिंदी-

होती थीं, उनका परिचय, बड़ी विशदता से, 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जाता था और अनेक साधुवाद-धन्यवाद देकर लेखक का आदर किया जाता था। नये विषयों की कई पुस्तकों की आलोचना 'सरस्वती' में निकली थी; पर प्रचलित विषयों की खोज करके लिखनेवाले अधिक नहीं थे। मेरा आशय हिंदी-वालों से है। हिंदी-भाषा-भाषी, लाख अनुनय-विनय करने पर भी इस ओर ध्यान न देते थे। हाँ, मराठी, वँगला के लेखक अवश्य प्रथमशील थे। द्विवेदी जी उनसे ही आशा रखते थे और बड़ी श्रद्धा से उनका नाम लिया करते थे। सुप्रसिद्ध मराठी-लेखक और ग्रंथकार रायवहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० वी० के मराठी में लिखे हुए अवलोक्ति-लेख-माला के लेखों से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने लिखा था—

“उन्हें (अवलोक्ति-लेखमाला के लेख) पढ़कर हमारे हृदय में लेखक महाशय के विषय में श्रद्धा का अंकुर उग आया। उनके अन्यान्य ग्रंथ और लेख पढ़ते-पढ़ते वह अंकुर बढ़कर विशाल वृक्ष हो गया। महाभारत-विषयक उनका ग्रंथ पढ़कर हमने बहुत अधिक लाभ उठाया। इस ग्रंथ में वैद्य महाशय ने महाभारत से संबंध रखनेवाले ग्रामः सभी विषयों का जिस योग्यता से विचार किया है और उनकी तुलनामूलक आलोचना करने में उन्होंने जिस बुद्धिदातिषय और सदसाहृदयेचना का परिचय दिया है, उसकी बार-बार प्रशंसा करने को जी चाहता है।”

हिंदी-हितैषियों और सेवकों के विषय में उनका यह आदर-भाव और भी बढ़ा-चढ़ा था। यह स्वाभाविक था और उनकी प्रशंसा में लिखे हुए विचार उनके हृदय से निकले हुए होते थे। इसका एक उदाहरण आज से ३५ वर्ष पहले का है। 'सरस्वती' के संपादक होने के पहले ही बाबू श्यामसुन्दरदास की हिंदी-

जन्म देकर इस विषय में पथ-प्रदर्शक न बनती तो शायद बहुत दिनों तक वैसी पत्रिकाओं के दर्शन न होते। मेरी संद हुद्दियों यही कहती है कि नागरी-लिपि के प्रबार और हिंदी-भाषा के साहित्य के उद्धार के लिए इस सभा ने जितना काम किया है, उतना काम न तो किसी अन्य संस्था ने ही किया और न अनेक साहित्य-सेवियों ने समिलित रूप से ही किया। इसके उद्योग से बना हुआ हिंदी-भाषा का कोप और व्याकरण बड़े ही महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। यदि यह इस और दूतचित्त न होती तो शायद हिंदी-साहित्य के ये दोनों अंग अपनी उन्नतावस्था में अब तक देखने ही को न मिलते।”

ये वाक्य उसी सभा की ‘प्रशंसनामें’ लिखे गये हैं जिसके कार्यों की कटु आलोचना उन्होंने १९०५ में की थी। उस समय सभा की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी; परंतु इस बार स्वयं द्विवेदी जी ने आगे चल कर कहा है—

“आप बनावट न समझिए, मैं शुद्ध हृदय से इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं इस सभा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इसे तो मैं अपनी गुरुस्थानीय ही नहीं, अत्तदात्री तक समझने को तैयार हूँ। यदि इस सभा के कुछ प्रसुत कार्यकर्ता हिन्दियन प्रेस से ‘सरस्वती’ का प्रकाशन न करते तो मैं हिंदी लिखने और उसके साहित्य की थोड़ी-बहुत चेष्टा करने मैं कदापि समर्थ न होता। यह इस सभा का ही प्रभाव, प्रसाद या प्रताप है, जो मैं आज एक विशेष निमित्त की पूर्ति के लिए काशी में उपस्थित हुआ हूँ।”

ये हैं गुण-प्राहक द्विवेदी जी के सचे हृदयोद्गार। इन वाक्यों पर गौर करने से यह भी पता चल जायगा कि सभापति के आसन से शिष्टाचार और सज्जनता की रक्षा के लिए ही ये प्रशंसात्मक वाक्य नहीं लिखे गये हैं।

जन्म देकर इस विषय में पथ-प्रदर्शक न बनती तो शायद बहुत दिनों तक वैसी पत्रिकाओं के दर्शन न होते। मेरी संदुष्टियों यही कहती है कि नागरी-लिपि के प्रचार और हिंदी-भाषा के साहित्य के उद्धार के लिए इस सभा ने जितना काम किया है, उतना काम न तो किसी अन्य संस्था ने ही किया और न अनेक साहित्य-सेवियों ने सम्मिलित रूप से ही किया। इसके उद्योग से बना हुआ हिंदी-भाषा का कोप और व्याकरण बड़े ही महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। यदि यह इस और दत्तचित्त न होती तो शायद हिंदी-साहित्य के ये दोनों अंग अपनी उन्नतावस्था में अब तक देखने ही को न मिलते।”

ये वाक्य उसी सभा की ‘प्रशंसनी’ में लिखे गये हैं जिसके कार्यों की कटु आलोचना उन्होंने १६०५ में की थी। उस समय सभा की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी; परंतु इस बार स्वयं द्विवेदी जी ने आगे चल कर कहा है—

“आप बनावट न समझिए, मैं शुद्ध हृदय से इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं इस सभा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इसे तो मैं अपनी गुरुस्थानीय ही नहीं, अन्नदात्री तक समझने को तैयार हूँ। यदि इस सभा के कुछ प्रमुख कार्यकर्ता इण्डियन प्रेस से ‘सरस्वती’ का प्रकाशन न कराते तो मैं हिंदी लिखने और उसके साहित्य की थोड़ी-बहुत चेष्टा करने में कदापि समर्थ न होता। यह इस सभा का ही प्रभाव, प्रसाद या प्रताप है, जो मैं आज एक विशेष निमित्त की पूर्ति के लिए काशी में उपस्थित हुआ हूँ।”

ये हैं गुण-प्राहक द्विवेदी जी के सब्दे हृदयोदगार। इन वाक्यों पर गौर करने से यह भी पता चल जायगा कि सभापति के आसन से शिष्टाचार और सज्जनता की रक्षा के लिए ही ये प्रशंसात्मक वाक्य नहीं लिखे गये हैं।

इदमेव हि पारिदत्यमियमेव विद्यधता ।  
अयमेव परो धर्मो यदायाच्चाधिको व्ययः ॥

**अर्थात्**—जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है। मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संबंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे। अँगरेजी में एक कहावत है—Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment. अर्थात् बहुत देने से ही उदारता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है। द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की थी। अपने गाँव में, लड़कियों की शादी में, ग्रीव व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा लियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे। दूसरी ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को अपना प्राणों से भी प्रिय ग्रंथ-भंडार दान दे दिया। उसमें 'सरस्वती' की पुरानी कापी, शुरु से आज तक का समस्त पत्र-व्यवहार और अख्यारों की कतरनों के बंडल हैं। ग्रंथों से आठ अलमारियाँ भरी हैं और बंडलों से ढो। इन सब बंडलों की छान-बीन करने के लिए नियमित रूप से ६ महीने की आवश्यकता है।

### आत्माभिमान

जो नवयुवक साहित्य-सेवी स्वाभिमान और आत्मसम्मान के साथ जिंदगी चरसर करना चाहते हों वे द्विवेदी जी से इस विषय में भी अनेक बातें सीख सकते हैं। यह बात वहाँ से पाठकों को न मालूम होगी कि द्विवेदी जी ने २००) की नौकरी छोड़कर २३) की नौकरी की थी। रेलवे ट्रैफिक-विभाग में वे

इदमेव हि पाणिदत्यमियमेव विदग्धता ।

अयमेव परो धर्मो यदायाक्षाधिको व्ययः ॥

**अर्थात्**—जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है। मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संवंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे। अँगरेजी में एक कहावत है—Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment. अर्थात् बहुत देने से ही उदारता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है। द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की थी। अपने गाँव में, लड़कियों की शादी में, गरीब व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा लियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे। दूसरी ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को अपना प्राणों से भी प्रिय ग्रंथ-भंडार दान दे दिया। उसमें 'सरस्वती' की पुरानी कापी, शुरू से आज तक का समस्त पत्र-व्यवहार और अखबारों की कतरनों के बंडल हैं। ग्रंथों से आठ अलमारियाँ भरी हैं और बंडलों से दो। इन सब बंडलों की छान-बीन करने के लिए नियमित रूप से ६ महीने की आवश्यकता है।

### आत्माभिमान

जो नवयुवक साहित्य-सेवी स्वाभिमान और आत्मसम्मान के साथ जिंदगी वसर करना चाहते हों वे द्विवेदी जी से इस विषय में भी अनेक बातें सीख सकते हैं। यह बात बहुत-से पाठकों को न मालूम होगी कि द्विवेदी जी ने २००) की नौकरी छोड़कर २३) की नौकरी की थी। रेलवे ट्रैफिक-विभाग में वे

gentleman and I must warn you against your having recourse to such language in future; should you have occasion to write to me again."

इसी प्रकार एक दूसरे महाशय के लेख को अपमान-मूचक समझकर उन्होंने मानहानि का दावा दायर करने का नोटिस दिया था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सितंवर सन् १६०८ की 'सरस्वती' के पृष्ठ ४१५ पर 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति'-शीर्षक एक लेख छपा था। वह बँगला 'प्रवासी' में प्रकाशित श्री महेशचन्द्र घोप के एक लेख के आधार पर लिखा गया था। उसी लेख के संबंध में १६ नवम्बर, १६०८ के 'आर्य-मित्र' में परिषदत नरदेव शास्त्री बेदीर्थ ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था; किंतु इसके पहले ही २४ सितम्बर और १ अक्टूबर १६०८ के 'आर्य-मित्र' में क्रमशः एक लेख छपा था। उस लेख का शीर्षक था, 'सरस्वती में आर्य'। उसके लेखक थे कोई मथुरा-निवासी वी० एन० शर्मा। वह लेख व्यक्तिगत आन्तर्पों से भरा हुआ था। उसी पर द्विवेदी जी ने वीस हजार का मानहानि का दावा करने का नोटिस दिया था। वह नोटिस २४ अक्टूबर १६०८ के 'आर्य-मित्र' में संपादकीय मंतव्य के साथ छपा था। हिंदी के यशस्वी कवि और कानपुर के प्रतिष्ठित चकील राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने द्विवेदी जी की ओर से नोटिस दिया था। फलस्वरूप उक्त वी० एन० शर्मा ने २४ सितम्बर १६०८ के 'आर्य-मित्र' में अपना ज्ञमापन प्रकाशित किया। उस ज्ञमाप्रार्थना के नीचे 'आर्य-मित्र' के प्रिंटर (वावूराम शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक) और पञ्जिशर (कपूरचंद) का दुःख प्रकाश बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था। इस ज्ञमाप्रार्थना के संबंध में २७ फरवरी १६१० के

gentleman and I must warn you against your having recourse to such language in future; should you have occasion to write to me again."

इसी प्रकार एक दूसरे महाशय के लेख को अपमान-सूचक समझकर उन्होंने मानहानि का दावा दायर करने का नोटिस दिया था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सितम्बर सन् १६०८ की 'सरस्वती' के पृष्ठ ४१५ पर 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति'-शीर्पक एक लेख छपा था। वह बँगला 'प्रवासी' में प्रकाशित श्री महेशचन्द्र घोप के एक लेख के आधार पर लिखा गया था। उसी लेख के संबंध में १६ नवम्बर, १६०८ के 'आर्य-मित्र' में पण्डित नरदेव शास्त्री बेदतीर्थ ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था; किंतु इसके पहले ही २४ सितम्बर और १ अक्टूबर १६०८ के 'आर्य-मित्र' में क्रमशः एक लेख छपा था। उस लेख का शीर्पक था, 'सरस्वती में आर्य'। उसके लेखक थे कोई मथुरा-निवासी वी० एन० शर्मा। वह लेख व्यक्तिगत आचेषणों से भरा हुआ था। उसी पर द्विवेदी जी ने वीस हजार का मानहानि का दावा करने का नोटिस दिया था। वह नोटिस २४ अक्टूबर १६०८ के 'आर्य-मित्र' में संपादकीय मंतव्य के साथ छपा था। हिंदी के यशस्वी कवि और कानपुर के प्रतिष्ठित वकील राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने द्विवेदी जी की ओर से नोटिस दिया था। फलस्वरूप उक्त वी० एन० शर्मा ने २४ सितम्बर १६०८ के 'आर्य-मित्र' में अपना क्षमापत्र प्रकाशित किया। उस क्षमाप्रार्थना के नीचे 'आर्य-मित्र' के प्रिंटर (वावूराम शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक) और पञ्चिलशर (कपूरचंद) का दुख प्रकाश वडे-वडे, अक्षरों में छपा था। इस क्षमाप्रार्थना के संबंध में २७ फरवरी १६१० के

रही और उसी ने हिंदी-साहित्य-संसार में उनका एकचक्रत्र राज्य स्थापित कर दिया। सत्य, स्पष्टता और निर्भकता का निरंतर अनुसरण करने के कारण ही आज हिंदी-साहित्य-चेत्र में उनका यशःसौरभ फैल रहा है। वास्तव में जीवन की सचाई ही सदैव उनका ध्येय रही है और सांसारिक शिष्टाचार तथा कृत्रिमता से दूर रहने की वे सदा चेत्रा करते रहे हैं। किसी से दबकर वे कभी वात ही नहीं करते थे। कारण, स्वार्थवश होकर या अन्य किसी लाभ को आशा से वे कभी कोई ऐसा काम ही नहीं करते थे कि उन्हें दूसरों से दबना पड़े। यों वे बाद-विवाद से भी दूर ही रहना पसन्द करते रहे, परन्तु जब-जब वे विवश किये गये—बाद-विवाद में पड़ने के लिए लल-कारे गये, तब उन्होंने पेर पीछे नहीं रक्खा। उनकी इस निर्भकता तथा स्वाभिमान का पता हमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रवन्द्यु, लाठ भगवानदीन आदि संहोनेवाले साहित्यिक बाद-विवादों से लगता है। अपने मित्रों के प्रति भी उनका व्यवहार निष्कपट रहा है। मन में जो रहता था, वही वे मुख से भी कहते थे। कृत्रिमता से उन्हें घृणा थी। इससे लोग प्रायः असंतुष्ट हो जाते थे, उनको धमंडी कहा करते थे। द्विवेदी जी ने ऐसे व्यक्तियों की कभी परवा ही नहीं की। जिस वात को वे जैसा समझते थे, फौरन कह डालते थे। मई १९०४ की 'सरस्वती' में उन्होंने राजा रामपालसिंह का जीवनचरित प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने धनी-मानी पुरुषों पर आक्षेप करते हुए अपनी स्पष्टवादिता का परिचय दिया था। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा था—

“हम देखते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी अनेक बड़े-बड़े राजा और धनी जोग इस देश में हैं, परंतु देशहित और स्वभावोत्कर्ष के निमित्त

रही और उसीं ने हिंदी-साहित्य-संसार में उनका एकचक्रत्र राज्य स्थापित कर दिया। सत्य, स्पष्टता और निर्भीकता का निरंतर अनुसरण करने के कारण ही आज हिंदी-साहित्य-क्लैवर में उनका यशःसौरभ फैल रहा है। वास्तव में जीवन की सचाई ही सदैव उनका ध्येय रही है और सांसारिक शिष्टाचार तथा कृत्रिमता से दूर रहने की वे सदा चेष्टा करते रहे हैं। किसी से दबकर वे कभी बात ही नहीं करते थे। कारण, स्वार्थवश होकर या अन्य किसी लाभ की आशा से वे कभी कोई ऐसा काम ही नहीं करते थे कि उन्हें दूसरों से दबना पड़े। यों वे बाद-विवाद से भी दूर ही रहना पसन्द करते रहे, परन्तु जब-जब वे विवश किये गये—बाद-विवाद में पड़ने के लिए लल-कारे गये, तब उन्होंने पैर पीछे नहीं रखा। उनकी इस निर्भीकता तथा स्वाभिमान का पता हमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रवन्धु, लाठ भगवानदीन आदि से होनेवाले साहित्यिक बाद-विवादों से लगता है। अपने मित्रों के प्रति भी उनका व्यवहार निष्कर्ष रहा है। मन में जो रहता था, वही वे मुख से भी कहते थे। कृत्रिमता से उन्हें घृणा थी। इससे लोग प्रायः असंतुष्ट हो जाते थे, उनको घमंडी कहा करते थे। द्विवेदी जी ने ऐसे व्यक्तियों की कभी परवा ही नहीं की। जिस बात को वे जैसा समझते थे, फौरन कह डालते थे। मई १९०४ की 'सरस्वती' में उन्होंने राजा रामपालसिंह का जीवनचरित प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने धनी-मानी पुरुषों पर आक्षेप करते हुए अपनी स्पष्टवादिता का परिचय दिया था। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा था—

“हम देखते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी अनेक बड़े-बड़े राजा और धनी लोग इस देश में हैं, परंतु देशहित और स्वभावोत्कर्ष के निमित्त

समुचित प्रकाश पड़ता है। द्विवेदी जी ने इस नोट का शीर्षक दिया था—‘आर्यसमाज का कोप।’ इसे उन्होंने यों शुरू किया था—

“आर्य-ग्रन्थकारों से सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी पुस्तकों को ‘सरस्वती’-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास समालोचनार्थ कदापि न भेजा करें। पञ्चपात के विना न्यायपूर्वक पुस्तक के गुण-दोष-वर्णन करना प्रत्येक समालोचक का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए। परंतु खेद है कि द्विवेदी जी इस बात को कभी-कभी बिलकुल भूल जाते हैं। आर्यसमाज के ऊपर तो उनके क्रोध की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अभी हाल में आपने एक पुस्तक की समालोचना करते हुए श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती के गुरु महर्षि विरजानंद जी प्रश्नाचक्षु के ऊपर गंदे शब्दों की बौछार करके अपनी महावीरता का प्रचंड परिचय दे डाला है। ऐसी दशा में हमारी सम्मति है कि कोई आर्य-ग्रन्थकार अपनी पुस्तकों को वहाँ न भेजें।”

आर्य-प्रतिनिधि-सभा,  
संयुक्तप्रांत, बुलंदशहर }  
ता० ६—१०—१४ }

—विनीत  
मदनमोहन सेठ, एम० ए०,  
एल-एल० वी०, मंत्री सभा

इस विज्ञप्ति को प्रकाशित करके उन्होंने दो नोट दिये। वे इस प्रकार हैं—

(१) मंत्री महाशय ने सरस्वती पर यह अपराध लगाया है कि उसमें पुस्तकों की समालोचना पञ्चपात-रहित नहीं होती। मंत्री जी हमें ज्ञाना करें, उनका यह आरोप सर्वथा निर्मूल अतएव मिथ्या है।

(२) जो बात आज तक किसी को न सूझी थी, वह आर्य-प्रतिनिधि-सभा के मंत्री को सूझी है। हिंदू-धर्म पर आधात पर

समुचित प्रकाश पड़ता है। द्विवेदी जी ने इस नोट का शीर्षक दिया था—‘आर्यसमाज का कोप।’ इसे उन्होंने यों शुरू किया था—

“आर्य-ग्रन्थकारों से सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी पुस्तकों को ‘सरस्वती’-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास समालोचनार्थ कदापि न भेजा करें। पञ्चपात के विना न्यायपूर्वक पुस्तक के गुण-दोष-वर्णन करना प्रत्येक समालोचक का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए। परंतु खेद है कि द्विवेदी जी इस बात को कभी-कभी बिलकुल भूल जाते हैं। आर्यसमाज के ऊपर तो उनके क्रोध की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अभी हाल में आपने एक पुस्तक की समालोचना करते हुए श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती के गुरु महर्षि विज्ञानंद जी प्रशाचन के ऊपर गंदे शब्दों की बौछार करके अपनी महावीरता का प्रचंड परिचय दे डाला है। ऐसी दशा में हमारी सम्मति है कि कोई आर्य-ग्रन्थकार अपनी पुस्तकों को वहाँ न भेजें।”

आर्य-प्रतिनिधि-सभा,  
संयुक्तप्रांत, बुलंदशहर }  
ता० ६—१०—१४ }

—विनीत  
मदनमोहन सेठ, एम० ए०,  
एल-एल० वी०, मंत्री सभा

इस विज्ञाप्ति को प्रकाशित करके उन्होंने दो नोट दिये। वे इस प्रकार हैं—

(१) मंत्री महाशय ने सरस्वती पर यह अपराध लगाया है कि उसमें पुस्तकों की समालोचना पञ्चपात-रहित नहीं होती। मंत्री जी हमें ज्ञाना करें, उनका यह आरोप सर्वथा निर्मूल अतिषय मिथ्या है।

(२) जो बात आज तक किसी को न सूझी थी, वह आर्य-प्रतिनिधि-सभा के मंत्री को सूझी है। हिंदू-धर्म पर आधात पर

नाम देकर वी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड उर्दू में उनके पास भेजा। उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया था कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा तुम्हारा ( द्विवेदी जी का ) सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। एक दूसरे ने उन्हें लिखा कि— “आपकी सेवा में आर्य-विद्यार्थी-सभा, अजमेर, के निम्नलिखित प्रस्ताव की प्रतिलिपि सूचनार्थ भेजी जाती है—

### प्रस्ताव

यह सभा एक स्वर से (Unanimously) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पर निंदा का प्रस्ताव करती है, क्योंकि उन्होंने ‘सरस्वती’ में महर्षि विरजनन्द जी के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, और संपादक जो को यह नेक सलाह देती है कि वे शीघ्र ही ‘सरस्वती’ के आगामी अंक में अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करें।

### भवदीय

—चाँदकरण शारदा वी० ए०, एल्-एल० वी०  
प्रधान आर्य-विद्यार्थी सभा, अजमेर ’

द्विवेदी जी ने वी० सिंह महाशय के लिए लिखा—

“भाई सिंह दुःख मत करो। आर्यसमाज की धर्मोचति होती हो तो—

“कर कुठार आगे यह शीशा”

जिन लोगों का यह हाल है उनके विषय में परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है—

येषां चेतसि मोह-मत्सर-मद-आन्तिः समुज्जृभते  
तेऽप्येते दयया दयाधन चिभो संतारणीयास्त्वया ॥

नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड उर्दू में उनके पास भेजा। उसमें अनेक दुर्घचनाओं और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया था कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा तुम्हारा (द्विवेदी जी का) सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। एक दूसरे ने उन्हें लिखा कि— “आपकी सेवा में आर्य-विद्यार्थी-सभा, अजमेर, के निज्ञलिखित प्रस्ताव की प्रतिलिपि सूचनार्थ भेजी जाती है—

### प्रस्ताव

यह सभा एक स्वर से (Unanimously) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पर किंदा का प्रस्ताव करती है, क्योंकि उन्होंने 'सरस्वती' में महर्षि विरजानंद जी के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, और संपादक जी को यह नेक सलाह देती है कि वे शीघ्र ही 'सरस्वती' के आगामी अंक में अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करें।

### भवदीय

—चाँदकरण शारदा बी० ए०, एल्-प्लू० बी०  
प्रधान आर्य-विद्यार्थी सभा, अजमेर'

द्विवेदी जी ने बी० सिंह महाशय के लिए लिखा—

“भाई सिंह दुःख मत करो। आर्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

“कर कुठार आगे यह शीशा”

जिन लोगों का यह हाल है उनके विषय में परमेश्वर से हमारी आर्थना है—

येषां चेतसि मोह-मत्तवर-मद-आन्तिः समुज्जृभते  
तेऽप्येते दयया दयाधन विभो संतारणीयास्त्वया ॥

आचार्य द्विवेदी जी का स्वभाव इतना सरल और सरस था कि उनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे करुणा के साक्षात् अवतार थे—करुणा के परमाणुओं से बने थे। उनके सामने—

“मो सम कौन कुटिल खल कामी ?”

पढ़ने पर उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती थी। यदि आपने कहीं ऐसे दो-एक पद पढ़ दिये, तो वस वे मूर्च्छित होकर गिर जाते थे। यह स्वभाव उनका बुद्धापे के कारण नहीं, भरी जवानी में भी उनकी यही दशा थी। चरखारी के राजा जुम्कारसिंह जी द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे और शायद संगीत-प्रेमी भी। एक बार राजा साहब के यहाँ संगीत-मंडली थी। द्विवेदी जी उसमें नहीं पधारे; क्योंकि वहाँ पर सदासुहागिन भी विराजमान थी। आग्रह करने पर गये तब “मो सम कौन कुटिल खल कामी” गवाया। सुनकर स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ‘विछुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा’ जैसे खियों के गीत सुनकर भी द्विवेदी जी को मूर्च्छा आ जाती थी। तुलसी और अन्य कवियों के करुण-रस के पदों को पढ़ते ही द्विवेदी जी को रोमांच हो जाता था और आँखों से जलधारा बहने लगती थी। शायद भावावेश में गलकर उनका हृदय आँसुओं के रूप में निकल सकता था ॥। निम्नलिखित पंक्तियाँ उन्हें बहुत प्रिय थीं। प्रायः वे इन्हें गाया करते थे—

भागीरथी हम दोप भरे को  
भरोस यही कि परोस तिहारे ।

द्विवेदी जी के चित्र को देखिए। उसमें आपका ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौंहों की ओर विशेष रूप से जायगा।

आचार्य द्विवेदी जी का स्वभाव इतना सरल और सरस था कि उनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे करुणा के साक्षात् अवतार थे—करुणा के परमाणुओं से बने थे। उनके सामने—

“मो सम कौन कुटिल खल कामी ?”

पढ़ने पर उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती थी। यदि आपने कहीं ऐसे दो-एक पढ़ पढ़ दिये, तो वस वे मूर्च्छित होकर गिर जाते थे। यह स्वभाव उनका बुढ़ापे के कारण नहीं, भरी जबानी में भी उनकी यही दशा थी। चरखारी के राजा जुम्हारसिंह जी द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे और शायद संगीत-प्रेमी भी। एक बार राजा साहब के यहाँ संगीत-मंडली थी। द्विवेदी जी उसमें नहीं पधारे; क्योंकि वहाँ पर सदासुहागिन भी विराजमान थी। आग्रह करने पर गये तब “मो सम कौन कुटिल खल कामी” गवाया। सुनकर स्वयं मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ‘विलुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा’ जैसे खियों के गीत सुनकर भी द्विवेदी जी को मूर्च्छा आ जाती थी। तुलसी और अन्य कवियों के करुण-रस के पदों को पढ़ते ही द्विवेदी जी को रोमांच हो जाता था और आँखों से जलधारा बहने लगती थी। शायद भावावेश में गलकर उनका हृदय आँसुओं के रूप में निकल सकता था ॥१॥ निम्नलिखित पंक्तियाँ उन्हें बहुत प्रिय थीं।

प्रायः वे इन्हें गाया करते थे—

भागीरथी हम दोप भरे को  
भरोस यही कि परोस तिहारे ।

द्विवेदी जी के चित्र को देखिए। उसमें आपका ध्यात उनके उन्नत ललाट और घनी भौंहों की ओर विशेष रूप से जायगा।

चेहरे और लम्बे डील-डौल के अंदर एक सहानुभूति-पूर्ण, करुणार्द्ध और कोमल हृदय छिपा हुआ है। वास्तव में वे सच्चे प्रेम और भाव के भूखे थे। उनके समान पर-दुःख-कातर वहुत कम होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कष्ट में देखकर उनका हृदय पिघलने लगता और वे उसके दुःख को दूर करके ही चैन लेते थे; किसी के चोट लग गई है, विच्छू ने काट खाया है, तो द्विवेदी जी उधर ही दौड़ जाते थे और अपने हाथ से दबा लगाते। ब्राह्मण होकर भी वे यह नहीं देखते कि रोगी या आहत व्यक्ति पासी, कोरी अथवा चमार है। विपत्ति-पीड़ित ब्राह्मण और पासी, में उनकी दृष्टि में कोई भेद नहीं था। एक बार एक अहीर किसान वैल-गाड़ी में किसी दूसरे गाँव को जा रहा था। उसकी तबीचत खराब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा—“याखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्हयों; नाहीं तौ वहुत दिक्ष होइ जइहो।” इस तरह उसे बड़ी देर तक समझाते रहे। हमारे यहाँ के पढ़े-लिखे कह उठते—“मरने दो साले को। इन लोगों से सिर मारने को हमारे पास समय कहाँ।”

द्विवेदी जी अपने आश्रित जनों के साथ भी वड़े प्रेम का वर्ताव करते थे। नौकरों का वे आदर करते थे, उनकी दुःख-वार्ता से कोरा समवेदना प्रकट करके ही नहीं रह जाते, वरन् उनकी सहायता और रक्षा भी वे करते थे। उन्हें वे प्रायः मासिक वेतन देते थे। कभी-कभी प्रसंग होकर इनाम भी देते थे। एक बार एक नौकर को चाँदी के कड़े बनवा दिये थे। दूसरों को आश्रित व्यक्तियों और नौकरों के साथ कठोरतां का व्यवहार करते देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। वे स्वयं अपने नौकरों से कभी कठोर वचन नहीं कहते थे। उनके घर की दास-दासियों की वेश-भूपा देखकर वाहर के आदमियों को यह जानना कठिन

चेहरे और लम्बे डील-डौल के अंदर एक सहानुभूति-पूर्ण, करुणार्द्ध और कोमल हृदय छिपा हुआ है। वास्तव में वे सबे प्रेम और भाव के भूखे थे। उनके समान पर-दुःख-कातर बहुत कम होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कष्ट में देखकर उनका हृदय पिघलने लगता और वे उसके दुःख को दूर करके ही चैन लेते थे; किसी के चोट लग गई है, विच्छू ने काट खाया है, तो द्विवेदी जी उधर ही दौड़ जाते थे और अपने हाथ से दवा लगाते। ब्राह्मण होकर भी वे यह नहीं देखते कि रोगी या आहत व्यक्ति पासी, कोरी अथवा चमार है। विपत्ति-पीड़ित ब्राह्मण और पासी, में उनकी दृष्टि में कोई भेद नहीं था। एक बार एक अहीर किसान वैल-गाड़ी में किसी दूसरे गाँव को जा रहा था। उसकी तबीअत खराब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा—“याखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्हयों, नाहीं तौ वहुत दिक होइ जइहौ। इस तरह उसे बड़ी देर तक समझाते रहे। हमारे यहाँ के पढ़े-लिखे कह उठते—मरने दो साले को। इन लोगों से सिर मारने को हमारे पास समय कहाँ!

द्विवेदी जी अपने आश्रित जनों के साथ भी बड़े प्रेम का वर्ताव करते थे। नौकरों का वे आदर करते थे, उनकी दुःख-वार्ता से कोर। समवेदना प्रकट करके ही नहीं रह जाते, वरन् उनकी सहायता और रक्षा भी वे करते थे। उन्हें वे प्रायः मासिक वेतन देते थे। कभी-कभी प्रसन्न होकर इनाम भी देते थे। एक बार एक नौकर को चाँदी के कड़े बनवा दिये थे। दूसरों को आश्रित व्यक्तियों और नौकरों के साथ कठोरता का व्यवहार करते देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। वे स्वयं अपने नौकरों से कभी कठोर बचन नहीं कहते थे। उनके घर की दास-दासियों की वेश-भूपा देखकर बाहर के आदमियों को यह जानना कठिन

“दौलतपुर की ही बात है। एक बार मैंने चूल्हा जलाकर डाल के लिए श्रद्धन रखा था कि पंडित जी ने आवाज़ लगाई। उन दिनों वे ‘किरातार्जुनाय’ का हिंदीरूपान्तर मुझे लिखते थे। मैंने उसी जगह बढ़ाया चूल्हे से उतारकर चूल्हा बुझा दिया और लिखने आ वैठा। दो घंटे तक लिखते रहे। बाद को मैं रसोई बनाने वैठा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं चूल्हा बुझाकर आर्या था तब उन्हें बड़ा हुःख हुआ। उसके बाद आवाज़ देने से पहले वे ‘पूछ लिया करते थे कि ‘क्या कर रहे हो?’”

### अध्ययन

द्विवेदी जी का ज्ञान बहुत विस्तृत और अध्ययन बहुत अधिक था। उनमें आरम्भ से ही जिज्ञासावृत्ति प्रधान रही और नये-नये विषयों का उन्होंने काफी पठन-गठन किया। यही कारण था कि ‘सरस्वती’ के प्रत्येक अङ्ग में वे १०-१२ विषयों पर संपादकीय नोट लिख डालते थे। विभिन्न विषयों पर उन्होंने विस्तृत लेख भी लिखे, जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है कि संपादकीय कार्य करते हुए भी उन्हें इन सबका अध्ययन करके लेख लिखने का समय ही कैसे मिल जाता था। यहाँ तक कि ‘सरस्वती’ (भाग ४ सं० ११) में उन्होंने “रजोदर्शन”-शीर्पक लेख कामिनीकौतूहल के अन्तर्गत लिखा है। इसके बहुत पहले सन् १८६८ में काला-काँकर के किन्हीं रमेशसिंह नाम के व्यक्ति ने उनसे अलंकार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के विषय में पूछा था और यह भी लिखा था कि यदि मैं अलंकार और उसके अन्यान्य अंगों पर लिखा हुआ अपना निवन्ध भेजूँ तो क्या आप उस पर अपनी सम्मति देने की कृपा करेंगे।

बात यह है कि नई-नई वातों को जानने की इच्छा साधारण  
फा० १७

“दौलतपुर की ही बात है। एक बार मैंने चूलहा जलाकर दाल के लिए श्रद्धन रखा था कि पंडिन जी ने आवाज़ लगाई। उन्होंने दिनों बे ‘किरातार्जुनाय’ का हिंदीरूपान्तर सुझे लिखते थे। मैंने उसी जग बटुआ चूलहे से उतारकर चूलहा बुझा दिया और लिखने आ चैठा। दो बार तक लिखते रहे। बाद को मैं रसेंहै बनाने चैठा। जब उन्हें भालूम हुआ कि मैं चूलहा बुझाकर आया था तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद आवाज़ देने से पहले वे “पूछ लिया करते थे कि ‘क्या कर रहे हो?’ ?”

### अध्ययन

द्विवेदी जी का ज्ञान बहुत विस्तृत और अध्ययन बहुत अधिक था। उनमें आरम्भ से ही जिज्ञासावृत्ति प्रधान रही और नये-नये विषयों का उन्होंने काफी पठन-गठन किया। यही कारण था कि ‘सरस्वती’ के प्रत्येक अङ्क में वे १०-१२ विषयों पर संपादकीय नोट लिख डालते थे। विभिन्न विषयों पर उन्होंने विस्तृत लेख भी लिखे, जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है कि संपादकीय कार्य करते हुए भी उन्हें इन सबका अध्ययन करके लेख लिखने का समय ही कैसे मिल जाता था। यहाँ तक कि ‘सरस्वती’ (भाग ४ सं० ११) में उन्होंने “रजोदर्शन”-शीर्षक लेख कामिनीकौतूहल के अन्तर्गत लिखा है। इसके बहुत पहले सन् १८६८ में कालाकाँकर के किन्हीं रमेशसिंह नाम के व्यक्ति ने उनसे अलंकार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के विषय में पूछा था और यह भी लिखा था कि यदि मैं अलंकार और उसके अन्यान्य अंगों पर लिखा हुआ अपना निवन्ध भेजूँ तो क्या आप उस पर अपनी सम्मति देने की कृपा करेंगे।

बात यह है कि नई-नई बातों को जानने की इच्छा साधारण फा० १७

हिसाब लिखने और पुढ़ियाँ बनाने के काम में भी उन्हें लाते थे। शायद महात्मा गांधी के बाद दूसरा नंबर इस विषय में उन्हीं का था। उनकी सुव्यवस्था-प्रियता का इससे बढ़कर नमूना और क्या हो सकता है कि जब वे 'सरस्वती' के संपादन-कार्य से अलग हुए थे तब उन्होंने पदुमलाल पुनरालाल वरखशी जी को कई लेख ऐसे भी दिये थे जो लगभग २० वर्ष पहले वावू श्यामसुन्दरदास जी ने चार्ज ढेते समय उन्हें दिये थे। वर्षों के पुराने कपड़े उनके पास रखते थे और वे प्रायः उन्हें पहनते भी रहे हैं। पैसे-पैसे का हिसाब भी वे रखते रहे हैं। सहीने का बजट वे पहले ही बना लेते थे, उनके पास २०-२५ वर्ष पूर्व के भी साहवारी बजट मिल सकते थे।

### सफलता का रहस्य

द्वियोदी जी ऐसे देशभक्त या सुधारक नहीं थे, जो केवल सुधार-सुधार चिन्हाया करते हैं। जिस भारतीय सभ्यता, धर्म आदि की वे वकालत करते हैं उसको उन्होंने स्वयं भी अपनाया था। जिस अपनाने की ओर वे संकेत करते हैं उसके कारण भी वताते चलते हैं। 'कभी कहते हैं—

"कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा वह ग्राचीन वैभव इस समय कथावशेष रह गया है। लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें विदेशी योरप और अमेरिका ने परास्त कर दिया, बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुँह दिखाने लायक न रखा। तुम्हारे हीरों का हास हो गया।"

और कभी सुधारकों और कर्मवीरों को सावधान करते हुए उन्हें कर्तव्य सुझाते हैं—

हिसाब लिखने और पुढ़ियाँ बनाने के काम में भी उन्हें लाते थे। शायद महात्मा गांधी के बाद दूसरा नंबर इस विषय में उन्हीं का था। उनकी सुव्यवस्था-प्रियता का इससे बढ़कर नमूना और क्या हो सकता है कि जब वे 'सरस्वती' के संपादन-कार्य से अलग हुए थे तब उन्होंने पढ़ुमलाल पुन्नालाल बखशी जी को कई लेख ऐसे भी दिये थे जो लगभग २० वर्ष पहले वावू श्यामसुन्दरदास जी ने चार्ज देते समय उन्हें दिये थे। वर्षों के पुराने कपड़े उनके पास रखते थे और वे प्रायः उन्हें पहनते भी रहे हैं। पैसे-पैसे का हिसाब भी वे रखते रहे हैं। महीने का बजट वे पहले ही बना लेते थे, उनके पास २०-२५ वर्ष पूर्व के भी माहवारी बजट मिल सकते थे।

### सफलता का रहस्य

द्विवेदी जी ऐसे देशभक्त या सुधारक नहीं थे, जो केवल सुधार-सुधार चिल्हाया करते हैं। जिस भारतीय सभ्यता, धर्म आदि की वे वकालत करते हैं उसको उन्होंने स्वयं भी अपनाया था। जिस अपनाने की ओर वे संकेत करते हैं उसके कारण भी वताते चलते हैं। कभी कहते हैं—

"कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा वह प्राचीन वैभव इस समय कथावशेष रह गया है। लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें विदेशी योरप और अमेरिका ने परास्त कर दिया, बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुँह दिखाने लायक न रखा। तुम्हारे हीरों का हास हो गया।"

और कभी सुधारकों और कर्मचारों को सावधान करते हुए उन्हें कर्तव्य सुझाते हैं—

विरोधों का सामना करना पड़ा; पर उन्होंने वीरता के साथ अपने प्रतिद्वंद्वियों का सामना किया और असीम योग्यता, अद्भुत धैर्य, अप्रतिम दक्षता दिखाई। कालांतर में लोगों ने उन्हें सभभा और उनकी महत्ता को स्वीकार किया। इस विजय का श्रेय उनकी निर्भीक सत्य-प्रीति, तेजस्विता, वहुदर्शिता और मर्मज्ञता, नियम-निष्ठा, अमशीलता, साधन-वहुलता और कार्यदक्षता को ही दिया जा सकता है। उनका जीवन साहित्य-सेवियों की कृत-कृत्यता का एक महान् उज्ज्वल हृष्टांत है। यह नितांत सत्य है कि कोई भी व्यक्ति उनकी विशेषताओं को अंगीकृत करके गौरवशाली हो सकता है। संचेप में द्विवेदीजी को बालोचित विनम्रता, उनकी साधगी, उनका समय का सदुपयोग, उनकी शिष्टता और सज्जनता आदि गुणों ने हिंदी-भाषा का इतिहास जाननेवाले लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया है, जो अमिट है।

विरोधों का सामना करना पड़ा; पर उन्होंने वीरता के साथ अपने प्रतिद्वंद्वियों का सामना किया और असीम योग्यता, अद्दट धैर्य, अप्रतिम दक्षता दिखाई। कालांतर में लोगों ने उन्हें सभभा और उनकी महत्ता को स्वीकार किया। इस विजय का श्रेय उनकी निर्भीक सत्य-प्रीति, तेजस्विता, बहुदर्शिता और मर्मज्ञता, नियम-निष्ठा, श्रसशीलता, साधन-बहुलता और कार्यदक्षता को ही दिया जा सकता है। उनका जीवन साहित्य-सेवियों की कृत-कृत्यता का एक महान् इज्जवल हृष्टांत है। यह नितांत सत्य है कि कोई भी व्यक्ति उनकी विशेषताओं को अंगीकृत करके गौरवशालो हो सकता है। संचेप में द्विवेदी जी को वालोचित विनम्रता, उनकी साधगी, उनका समय का सदुपयोग, उनकी शिष्टता और सज्जनता आदि गुणों ने हिंदी-भाषा का इतिहास जाननेवाले लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया है, जो अमिट है।

मूँदे रहते हैं। शेक्सपियर की वात को तो जाने दीजिए, पर हिंदी के कवि अपने रंग में मंस्त रहकर ही यदि भारतीयता की भावनाओं से शून्य रहें या भारतीय परिस्थिति और भारतीय समस्याओं की ओर से, किसी कारण से भी, उदासीन रहें तो सचमुच वडे आश्चर्य की वात होंगी। कारण, पिछले लगभग ५० वर्ष से देश में ऐमी-ऐसी समस्याओं का जन्म हो रहा है जिनका संबंध भारत की सभी श्रेणियों और वर्गों से है। सामाजिक प्राणी—स्वांतःसुखाय कविता करनेवाले कल्पना-प्रधान अथवा भाव-प्रधान कवियों को भी मैं यही समझता हूँ—साधारणतः इनकी ओर उपेक्षा की हृषि से नहीं देख सकता और न ऐसा करना उचित ही है। ऐसे कवियों की भावना, सहदयता और सहानुभूति की जननी बनकर, मनुष्यमात्र का हृदय जाति-प्रेम और देश-प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। कृतज्ञता और समवेदना का भाव भी इस कार्य में सहायक होता है। फलतः कवि-हृदय की भावुक सहदयता इससे प्रभावित होकर शब्दों के रूप में प्रकट होती है।

ऐसा ही भावुक कवि-हृदय द्विवेदी जी का था। देश-प्रेम से वह सदैव ही परिपूर्ण रहा। यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मामलों में शायद कभी भाग नहीं लिया, तथापि स्वतंत्रता के लिए होनेवाले आंदोलन से उनकी पूर्ण सहानुभूति रही। स्वदेशी वक्षों का प्रयोग स्वदेशी-आंदोलन से भी पहले से वै करते आये थे। गांधी जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति भी आज से लगभग २७ वर्ष पहले से थी। जिन दिनों महात्मा जी दिल्ली में उपवास कर रहे थे और समाचार-पत्रों में उनकी हालत के वृत्तांत छपते थे, द्विवेदी जी उन समाचारों को बड़ी चिंता के साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी

मूँदे रहते हैं। शेक्सपियर की वात को तो जाने दीजिए, पर हिंदी के कवि अपने रंग में मस्त रहकर ही यदि भारतीयता की भावनाओं से शून्य रहें या भारतीय परिस्थिति और भारतीय समस्याओं की ओर से, किसी कारण से भी, उदासीन रहें तो सचमुच वडे आश्चर्य की वात होंगी। कारण, पिछले लगभग ५० वर्ष से देश में ऐसी-ऐसी समस्याओं का जन्म हो रहा है जिनका संबंध भारत की सभी श्रेणियों और वर्गों से है। सामाजिक प्राणी—स्वांतःसुखाय कविता करनेवाले कल्पना-प्रधान अथवा भाव-प्रधान कवियों को भी मैं यही समझता हूँ—साधारणतः इनकी ओर उपेक्षा की हृषि से नहीं देख सकता और न ऐसा करना उचित ही है। ऐसे कवियों की भावना, सहदयता और सहानुभूति की जननी बनकर, मनुष्यमात्र का हृदय जाति-प्रेम और देश-प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। कृतज्ञता और समवेदना का भाव भी इस कार्य में सहायक होता है। फलतः कवि-हृदय की भावुक सहदयता इससे प्रभावित होकर शब्दों के रूप में प्रकट होती है।

ऐसा ही भावुक कवि-हृदय छिंचेदी जी का था। देश-प्रेम से वह सदैव ही परिपूर्ण रहा। यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मामलों में शायद कभी भाग नहीं लिया, तथापि स्वतंत्रता के लिए होनेवाले आंदोलन से उनकी पूर्ण सहानुभूति रही। स्वदेशी वर्षों का प्रयोग स्वदेशी-आंदोलन से भी पहले से वे करते आये थे। गांधी जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति भी आज से लगभग २७ वर्ष पहले से थी। जिन दिनों महात्मा जी दिल्ली में उपवास कर रहे थे और समाचार-पत्रों में उनकी हालत के वृत्तांत छपते थे, छिंचेदी जी उन समाचारों को बड़ी चिंता के साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी

“हाय, जिस भारत ने अपने धर्म, अपने फला-कौशल और अपनी सम्यता का पाठ दूसरे-दूसरे देशों और दूसरी-दूसरी विलायतों को पढ़ाया, वही आज ये सभ्यों में नहीं तो अर्द्ध-सभ्यों में गिना जारहा है। महाकवि ने टीक एक ही कहा है—

द्रुतविधितसितां ही विचित्रो विपाकः ।”

— सरस्वती (दिसंबर १९२७)

भारतीयता का यह पक्षपात द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाओं—विशेषकर पुरातत्त्व विषय पर लिखे हुए लेखों—में प्रधान है। उनका विचार जो उनके लेखों से स्पष्ट होता है, वह यह है कि एकता और जातीयता के भाव भारतवासियों में तभी पैदा हो सकते हैं जब हम अपने पूर्व-पुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चलें। ‘ब्रत-कथायें’-शीर्षक निवंध में, जो श्रीशारदा (दिसंबर सन् १९२१ पृ० ५६५) में प्रकाशित हुआ था, द्विवेदी जी ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके कुछ लेख तो प्राचीन साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का परिचयमात्र हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमें अपने पूर्वजों की उन्नति, सम्यता, गौरव आदि का गर्व है। यही गर्व द्विवेदी जी को भी था। परं वे यह नहीं चाहते थे कि भारतवासी सिर्फ घमंड में ही चूर रहें—केवल अपने पूर्वजों का गुणगान करते हुए स्वयं अकर्मण्यता का भदा नमूना बनते रहें। हमारे पूर्वजों ने वहुत-कुछ किया था; परंतु आज हम क्या हैं—द्विवेदी जी अपने पाठकों को यही सुझाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने प्रायः तुलनात्मक लेख लिखे हैं, जो परिचायकमात्र होते हुए भी पाठकों के सामने एक आदर्श उपस्थित करते चलते हैं।

“हाय, जिस भारत ने अपने धर्म, अपने कला-कौशल और अपनी सभ्यता का पाठ दूसरे-दूसरे देशों और दूसरी-दूसरी विज्ञायतों को पढ़ाया, वही आज असभ्यों में नहीं तो अद्व-सभ्यों में गिना जा रहा है। महाकवि ने टीक ई कहा है—

इत्विधितस्तिर्तं ही विचित्रो विपाकः ।”

— सरस्वती (दिसंबर १९२७)

भारतीयता का यह पक्षपात द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाओं—विशेषकर पुण्यतत्त्व विषय पर लिखे हुए लेखों—में प्रधान है। उनका विचार जो उनके लेखों से स्पष्ट होता है, वह यह है कि एकता और जातीयता के भाव भारतवासियों में तभी पैदा हो सकते हैं जब हम अपने पूर्व-पुरुषों के वताये हुए मार्ग पर चलें। ‘व्रत-कथायें’-शीर्षक निवंध में, जो श्रीशारदा (दिसंबर सन् १९२१ पृ० ५६५) में प्रकाशित हुआ था, द्विवेदी जी ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके कुछ लेख तो प्राचीन साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का परिचयमात्र हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमें अपने पूर्वजों की उत्तरि, सभ्यता, गौरव आदि का गर्व है। यही गर्व द्विवेदी जी को भी था। परं वे यह नहीं चाहते थे कि भारतवासी सिर्फ घमंड में ही चूर रहें—केवल अपने पूर्वजों का गुणगान करते हुए स्वयं अकर्मण्यता का भदा नमूना बनते रहें। हमारे पूर्वजों ने वहुत-कुछ किया था; परंतु आज हम क्या हैं—द्विवेदी जी अपने पाठकों को यही सुझाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने प्रायः तुलनात्मक लेख लिखे हैं, जो परिचायकमात्र होते हुए भी पाठकों के सामने एक आदर्श उपस्थित करते चलते हैं।

रहती है। सब गों पहुँच भी रह तो मरना है कि जान उपाय के बाहर थी; या कहें जानवर गोंगा रहा। परंतु दिल्ली परामर्शदारों की भूमिका अंतर ऐसी ही थी कि जान इन्हीं के द्वारा हो जाता है वहाँ गों हड्ड मरना आहिला। ये कोई सुन्दर दिल्ली का नाम भी नहीं रह जाते। उनकी हुर्दीत देखते ही जरूर चुंद रहा जाता है।

एक निष्पत्ति के लिये एक जो विद्या जो ने जिता है वह नियोग नहीं है, वह एक व्यष्टिने जीवन में जाग देकर है। एक निष्पत्ति भास्तु की अवधारणा का जो जान्म वे कुछ न करते हैं कि है इसकी कृपमंडलता। यास्तात्व दृश्यों में आज ये ही अधिक उत्तमि लह लक्ष है। जितना जीवन नंगपर्याप्त और जीवन का रूप है। विद्या जो ने इसला अध्यवग किया और किर प्रार्थीन भास्तु के कान्पणीं ने तुलना करने में भूय इस अकर्मण्यता के विषय में लिया—

“हमारी कृपमंडला ने हमारी जो छानि थी है उमरी हृष्टा नहीं, उमरी हुक्कत इस पद्मपद पर भोग रहे हैं। उसने हमें किसी जान का नहीं रखा। परंतु हुदैये हमें किसी भी राजेव नहीं होने देता; उसने हमें यहीं तक यथा यना किया है कि हम अपने पूर्व-पुनर्जीवों के अस्ति और उनके एकांत भी भूल गये हैं। हमारे दिन धर्मपुरीण प्राचीन प्राचियों और सुनियों ने हीपांतरों तक में जाफर शायीं के पर्ग, ज्ञान और पृथग्यर्थी पर यताका फौराहै और वडेवडे दपनियेशों तक की स्पापना कर दी उनकी चरितावली शाज भी हमें अपनी पुरानी पेतियों में लिया भिलती है। परंतु उनकी ओर किसी का ज्ञान ही नहीं जाता, उनके कायों का अनुसरण करना तो दूर की यात है।”

—सरस्वती (दिसंबर १९२४)

“यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है, तथापि, वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहाँ वाशिंगटन के समान इन लोगों का उद्धार बरने के लिए—सिफ़्र शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा-द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्वों पर राचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैंपटन और टस्केजी की संस्थायें काम कर रही हैं?

इसी प्रकार देश के नवयुवकों के लिए भी उनका संदेश है कि अध्यवसाय से काम लो, अपने पैरों पर खड़े हो और आत्मवल पर विश्वास रखें। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक ‘एजूकेशन’ में लिखा है—मनुष्य को प्रत्येक चीज़ परिश्रम करके प्राप्त करनी चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास बिना औरों की मदद के मनुष्यों को यथासंभव खुद ही करना चाहिए। द्विवेदी जी ने स्पेंसर के इन विचारों का समर्थन अपनी अनुवादित पुस्तक ‘शिक्षा’ की भूमिका (पृ० ४) में किया है। इसी प्रकार उन्होंने बादू कालिदास जी कपूर को एक पत्र में आज से लगभग २० वर्ष पहले लिखा था—

“खूब परिश्रम कीजिए और संयम को हाथ से मत जाने दीजिए।”

यदि गौर करके देखा जाय तो हमें ज्ञात हो जायगा कि द्विवेदी जी की इतनी उन्नति केवल उनके परिश्रम के कारण ही हो सकी है। अस्तु।

इनके अतिरिक्त, एक तीसरे दोप की ओर भी द्विवेदी जी प्रायः संकेत करते रहे हैं। वह है हमारी कृतन्तता या अगुण-

“यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है, तथापि, चर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहाँ वाशिंगटन के समान इन लोगों का उद्धार बरने के लिए—सिर्फ़ शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा-द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्वों पर उचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैंपटन और टस्केजी की संस्थायें काम कर रही हैं?

इसी प्रकार देश के नवयुवकों के लिए भी उनका संदेश है कि अध्यवसाय से काम लो, अपने पैरों पर खड़े हो और आत्मबल पर विश्वास रखें। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक ‘एजूकेशन’ में लिखा है—मनुष्य को प्रत्येक चीज़ परिश्रम करके प्राप्त करनी चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास बिना औरों की मदद के मनुष्यों को यथासंभव खुद ही करना चाहिए। द्विवेदी जी ने स्पेंसर के इन विचारों का समर्थन अपनी अनुवादित पुस्तक ‘शिक्षा’ की भूमिका (पृ० ४) में किया है। इसी प्रकार उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर को एक पत्र में आज से लगभग २० वर्ष पहले लिखा था—

“खूब परिश्रम कीजिए और संयम को हाथ से मत जाने दीजिए।”

यदि गौर करके देखा जाय तो हमें ज्ञात हो जायगा कि द्विवेदी जी की इतनी उन्नति केवल उनके परिश्रम के कारण ही हो सकी है। अस्तु।

इनके अतिरिक्त, एक तीसरे दोप की ओर भी द्विवेदी जी प्रायः संकेत करते रहे हैं। वह है हमारी कृतन्नता या अगुण-

भारतीयता का भाव पैदा हो जाय, यही उनका आदर्श रहा है। एक बार उन्होंने लिखा था—

“इस देश के निवासियों में श्याम जी कृष्ण वर्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्षर्कोड़-विश्वविद्यालय से प्रमो ८० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की शशान-फिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे, योड़ा-सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने १२ हजार रुपया खर्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय फिया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इंग्लॅंड के ब्रह्मपिंडुल्य वेदांत-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान् द्वारा आदर देना छछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शनशास्त्र की महिमा यह बुद्धा भारत अब भी खूब जानता है।”

अंतिम याक्य का व्यंग्य समझने के लिए उसकी तह में पैठना पड़ेगा। द्विवेदी जी के भारतीयता-विप्रयक भाव इस एक ही याक्य में निहित समझे जा सकते हैं। पर भारत की आधुनिक परिस्थिति के संवंध में उनके विचार ‘आर्य-भूमि’ शीर्षक कविता में है। भारतभूमि के पूर्व-गौरव, धर्म, साहित्य, वेदांत, विज्ञान आदि की उन्नति की ओर संकेत करने के पश्चात् उन्होंने लिखा—

विचार ऐसे जब चित्त आते,  
विपाद पैदा करके सताते।  
न क्या कभी देव दया करेंगे,  
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ?

अंतिम पंक्ति की ‘कसक’-भावना ही किसी परतंत्र देश के नवयुवकों और नवयुवतियों के हृदयों में उत्पन्न होकर उस

भारतीयता का भाव पैदा हो जाय, यही उनका आदर्श रहा है। एक बार उन्होंने लिखा था—

“इस देश के निवासियों में इयाम जी कृष्ण वर्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्षसकोर्ड-विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की रमशान-किया के समय वे वहाँ उपस्थित थे, थोड़ा-सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने १५ हजार रुपया खर्च करके स्पेन्सर के नाम से एन-छाव्रबृत्ति नियत करने का निश्चय रखा। हस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इंगलैंड के ब्रह्मपिं तुल्य वेदांत-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान्-द्वारा आदर देना कुछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शनशाख की महिमा यह बुद्धा भारत अब भी खूब जानता है।”

अंतिम वाक्य का व्यंग्य समझने के लिए उसकी तह में पैठना पड़ेगा। द्विवेदी जी के भारतीयता-विषयक भाव इस एक ही वाक्य में निहित समझे जा सकते हैं। पर भारत की आधुनिक परिस्थिति के संवंध में उनके विचार ‘आर्य-भूमि’ शीर्षक कविता में है। भारतभूमि के पूर्व-गौरव, धर्म, साहित्य, वेदांत, विज्ञान आदि की उन्नति की ओर संकेत करने के पश्चात् उन्होंने लिखा—

विचार ऐसे जब चित्त आते,  
विषाद पैदा करके सताते ।  
न क्या कभी देव दया करेंगे,  
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ?

अंतिम पंक्ति की ‘कसक’-भावना ही किसी परतंत्र देश के नवयुवकों और नवयुवितियों के हृदयों में उत्पन्न होकर उस

## सम्मान

“मनुष्य के गुणों का विकाश प्रायः उसके मरने के अनन्तर होता है। जीवित दशा में हृष्टि-द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर राग-द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसी लिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाव्यशाली समझना चाहिए। जीवित-दशा में किसी के गुणों पर लुभ्य होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है।”

(सरस्वती, जुलाई १९०३)

X

X

X

X

अँगरेजी में एक कहावत है—‘ए थिंग इज वेल्यूड आफटर इट इज लास्ट’। इसका भाव यह है कि जब तक कोई वस्तु हमारे पास रहती है, हम प्रायः उसका वास्तविक मूल्य नहीं निर्धारित कर पाते हैं—या इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। परंतु जब वह वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है तब हम उसके लिए पछताते हैं। जीवन में अनेक बार हमें इस बात का अनुभव करना पड़ता है। संसार के इतिहास में अगणित उदाहरण ऐसे व्यक्तियों के मिलते हैं जिनके साथ उनके जीवित रहते तो पाश्विक व्यवहार किया गया है, परंतु मरणोपरांत उनका देवता के समान आदर हुआ। इसी बात को अपनी भाषा में सकारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने

## सम्मान

“मनुष्य के गुणों का विकाश प्रायः उसके मरने के अनन्तर होता है। जीवित दशा में हृष्ण-द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर राग-द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसी लिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति कैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी तो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित-दशा में किसी के गुणों पर लुभ्य होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की मिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है।”

(सरस्वती, जुलाई १९०३)

X

X

X

X

अँगरेजी में एक कहावत है—‘ए थिंग इज वेल्यूड आफटर इट इज लास्ट’। इसका भाव यह है कि जब तक कोई वस्तु हमारे पास रहती है, हम प्रायः उसका वास्तविक मूल्य नहीं निर्धारित कर पाते हैं—या इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। परन्तु जब वह वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है तब हम उसके लिए पछताते हैं। जीवन में अनेक बार हमें इस बात का अनुभव करना पड़ता है। संसार के इतिहास में अगणित उदाहरण ऐसे व्यक्तियों के मिलते हैं जिनके साथ उनके जीवित रहते तो पाश्विक व्यवहार किया गया है, परन्तु मरणोपरांत उनका देवता के समान आदर हुआ। इसी बात को अपनी भाषा में सकारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने

२७३

‘सार्टिकिकेट आक् श्रान्तर’ के लिए नाम पूछे जाने पर उन्होंने शायद मन ही मन धात्म-गौरव और आत्माभिमान के भावों में भरकर गर्व और गौरव से लिखा था—“वदलू चमार की जूँड़ी उत्तर जाती है तब मैं समर्झता हूँ कि ‘मुझे ‘कैसरे हिंद’ का तंमणा मिल गया।’” उनके चरित्र की यह विलक्षणता—मोह की यह निर्दयता—हिंदी के अधिकांश सेवी अभी तक नहीं समझ पाये हैं। उनके इस त्याग में क्या हमारे प्राचीन महर्षियों के त्याग के अनुकरण की पूत और महती भावना निहित नहीं समझी जायेगी ?

X

X

X

X

संसार में जीवित और जाग्रत् जातियाँ वास्तव में वे ही हैं जो अपने नेताओं, साहित्यिक महारथियों, शहीदों और समाज-सुधारकों के कार्यों का उचित मूल्य निर्धारित करके उनका यथोचित सम्मान करना जानती हैं। वडे गर्व और गौरव का विपर्य है कि हमने भी इस बात को समझा और उस पर कुछ अमल भी किया। आचार्य द्विवेदी की सेवाओं को स्वीकार करने के लिए, उनका सम्मान करने के ही विचार से वे कई बार कवि-सम्मेलनों के सभापति चुने गये। इसकी सूचना प्रायः प्रत्येक बार उन्हें नार से ही गई। हर बार उनसे प्रार्थना की जाती थी कि स्वीकृति तार ही द्वारा भेजिए। इसके उत्तर में द्विवेदी जी सदैव यही लिखते रहे कि अपनी अस्वस्थता के कारण यह भार स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। लोगों ने उनकी विवशता के कई अर्थ लगाये। किसी ने कहा—घमंड है। किसी ने व्यंग्य किया—जी, हाँ, हमेशा वीभार रहते हैं। एक ने प्रश्न किया—तब ‘सरस्वती’ का नियमित रूप से संपादन कैसे करते हैं ? इसका रहस्य जो कुछ भी हो, पर द्विवेदी जी

‘सार्टिफिकेट आर्क ऑनर’ के लिए नाम पूछे जाने पर उन्होंने शायद मन ही मन आत्म-गौरव और आत्माभिमान के भावों में भरकर गर्व और गौरव से लिखा था—“वदलू चमार की जूँड़ी उतर जाती है तब मैं समर्झता हूँ कि मुझे ‘कैसरे हिंद’ का तंमरा मिल गया।” उनके चरित्र की यह विलक्षणता—मोह की यह निर्दयता—हिंदी के अधिकांश सेवी अभी तक नहीं समझ पाये हैं। उनके इस त्याग में क्या हमारे प्राचीन महर्षियों के त्याग के अनुकरण की पूत्र और महती भावना निहित नहीं समझी जायगी ?

X

X

X

X

संसार में जीवित और जाग्रत् जातियाँ वास्तव में वे ही हैं जो अपने नेताओं, साहित्यिक महारथियों, शहीदों और समाज-सुधारकों के कार्यों का उचित मूल्य निर्धारित करके उनका यथोचित सम्मान करना जानती हैं। वडे गर्व और गौरव का विषय है कि हमने भी इस बात को समझा और उस पर कुछ अमल भी किया। आचार्य द्विवेदी की सेवाओं को स्वीकार करने के लिए, उनका सम्मान करने के ही विचार से वे कई बार कवि-सम्मेलनों के सभापति चुने गये। इसकी सूचना प्रायः प्रत्येक बार उन्हें नार से दी गई। हर बार उनसे प्रार्थना की जाती थी कि स्वीकृति तार ही द्वारा भेजिए। इसके उत्तर में द्विवेदी जी सदैव यही लिखते रहे कि अपनी अस्वस्थता के कारण यह भार स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। लोगों ने उनकी विवशता के कई अर्थ लगाये। किसी ने कहा—घमंड है। किसी ने व्यंग्य किया—जी, हाँ, हमेशा वीमार रहते हैं। एक ने प्रश्न किया—तब ‘सरस्वती’ का नियमित रूप से संपादन कैसे करते हैं ? इसका रहस्य जो कुछ भी हो, पर द्विवेदी जी

इन दोनों अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी अपनी विवशता के कारण ही सम्मेलन के सभापति-पद को अस्वीकार करते रहे हैं। हम उनके इन विचारों की विवेचना करके किसी अनुमानित अथवा कल्पित कारण की ओर संकेत करने की अपेक्षा यह अच्छा समझते हैं कि पाठकों के सामने यही दो परिच्छेद रख दिये जायें।

X

X

X

X

जनवरी १९३१ में आचार्य द्विवेदी २४ बंटे के लिए काशी पधारे थे। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय के कहने पर द्विवेदी जी के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करनेके शुभ अवसर पर सभा ने उनके अभिनंदनार्थ एक ग्रंथ प्रकाशित करने का निश्चय किया। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के आयोजन प्रायः होते रहते हैं। भारत में भी वंगाल, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में भी अपने साहित्यिकों तथा अन्य नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए इस प्रकार की योजनायें आदर की हृषि से देखी गई हैं। परंतु हिंदी के लिए यह पहला प्रस्ताव था। सौभाग्य से सभी ने हृदय से इसका स्वागत किया। सभा के कार्यकर्ताओं और श्री शिवपूजनसहाय जी के अनवरत परिश्रम के परिणाम-स्वरूप बाबू श्यामसुन्दरदास जी के संपादकत्व में वह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। वहुत से हिंदीप्रेमी राजाओं और महानुभावों ने इस शुभ कार्य में सहायता दी। इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशच घोप ने उस ग्रंथ को लागतमात्र पर छापकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

उस ग्रंथ में कुल ६३२ पृष्ठ हैं। ११ पृष्ठों में दोनों विद्वान्

इन दोनों अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी अपनी विवशता के कारण ही सम्मेलन के समाप्ति-पद को अस्वीकार करते रहे हैं। हम उनके इन विचारों की विवेचना करके किसी अनुमानित अथवा कल्पित कारण की ओर संकेत करने की अपेक्षा यह अच्छा समझते हैं कि पाठकों के सामने यहीं दो परिच्छेद रख दिये जायँ।

X

X

X

X

जनवरी १९३१ में आचार्य द्विवेदी २४ घंटे के लिए काशी पधारे थे। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय के कहने पर द्विवेदी जी के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करनेके शुभ अवसर पर सभा ने उनके अभिनंदनार्थ एक ग्रंथ प्रकाशित करने का निश्चय किया। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के आयोजन प्रायः होते रहते हैं। भारत में भी बंगाल, महाराष्ट्र आदि ग्रांतों में भी अपने साहित्यिकों तथा अन्य नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए इस प्रकार की योजनायें आदर की हृषि से देखी गई हैं। परंतु हिंदी के लिए यह पहला प्रस्ताव था। सौभाग्य से सभी ने हृदय से इसका स्वागत किया। सभा के कार्यकर्ताओं और श्री शिवपूजनसहाय जी के अनवरत परिश्रम के परिणाम-स्वरूप बाबू श्यामसुन्दरदास जी के संपादकत्व में वह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। वहुत से हिंदीप्रेमी राजाओं और महानुभावों ने इस शुभ कार्य में सहायता दी। इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशब घोष ने उस ग्रंथ को लागतमात्र पर छापकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

उस ग्रंथ में कुल ६३२ पृष्ठ हैं। ११ पृष्ठों में दोनों विद्वान्

आयोजन किया और वडी धूम-धाम से आचार्य का स्वागत किया। इस शुभ कार्य में योग देनेवालों में ठाकुर श्रीनाथसिंह, मंशी कन्हैयालाल एडवोकेट, बयोबृद्ध पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित रघुनंदन शर्मा, बाबू केवरनाथ गुप्त और श्री निरंजनलाल भार्गव सुख्य थे। ठाकुर गोपालशरणमिह इसके स्वागताभ्यक्त थे।

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य और मान्-भाषा की जितनी सेवा की है, उतनी कोई विरला ही साहित्य-सेवा करता है, इसलिए 'अपने समकालीन साहित्य-सेवियों की शुण-भीकृति के स्तर में' जितना नकार उपलब्ध है। वह भी किसी विरले को ही नसीब होता है। कम से कम हिंदूओं तो किसी आधुनिक लेखक को नहीं हुआ। किर भी अभी नीन ढाँड़ों की कमी है—(१) द्विवेदी जी को विशद जीवन-चरित, (२) उनके पत्रों का संकलन और संदर्भ-साहित्य-प्रकाशन, (३) उनकी समलूप चरित्रों का एक संकरण। इन अभावों का हिंदी-नकार स्वयं अनुभव कर रहा है। अब इस ओर विशेष स्प से ध्यान देने की आवश्यकता प्रदीत होती है।

आयोजन किया और बड़ी धूम-धाम से आचार्य का स्वागत किया। इस शुभ कार्य में योग देनेवालों में ठाकुर श्रीनाथसिंह, मंशी कन्हैयालाल एडवोकेट, वयोवृद्ध पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित रघुनंदन शर्मा, वावू केशरनाथ गुप्त और श्री निरंजनलाल भार्गव मुख्य थे। ठाकुर गोपालशरणसिंह इसके स्वागताभ्यक्ति थे।

डिवेदी जी ने हिंदी-साहित्य और मानव-भाषा की जितनी सेवा की है, उतनी कोई विरला ही साहित्य-नेत्री करता है, इसलिए 'अपने समकालीन साहित्य-सेवियों की शुण-म्बीकृति के स्पष्ट में' जितना सत्कार उपलब्ध है आ है, वह भी किसी विरले को ही नसीब होता है। कम से कम हिंदूओं तो किसी आधुनिक लेखक को नहीं हुआ। फिर भी अभी नीन चारों की कमी है—(१) डिवेदी जी का विशद जीवन-चरित, (२) उनके पत्रों का संकलन और संदर्भ-साहित्य-प्रकाशन, (३) उनकी समल रचनाओं का एक संग्रहण। इन अभावों का हिंदी-मंत्सार स्वयं अनुभव कर रहा है। अब इस और विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

श्रवस्था में जिस विद्वान् लेखक ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर हसका मार्ग विशाल बनाया, कंकड़-पथरं बीने, भाड़-भँखाड़ और कौटों का जलाया, वह हैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी।”

इसी से द्विवेदी जी आज आधुनिक हिंदी-गद्य के निर्माता अथवा जनक कहे जाते हैं।

X

X

X

माता-पिता अपने बालक को किसी योग्य गुरु के सुपुर्द कर देते हैं। वे जानते हैं कि गुरु जितना ही योग्य होगा, बालक की शिक्षा-दीक्षा उतनी ही संयत और उच्च कोटि की होगी। हिंदी-भाषा-भापियों को भी वीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक ऐसे पथ-प्रदर्शक गुरु की आवश्यकता थी, जो मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति उनका कर्तव्य उन्हें सुझाकर, ज्ञान की वृद्धि करके, उन्हें उचित मार्ग पर लाकर खड़ा कर दे। यह हमारा सौभाग्य ही था कि आवश्यकता के इस समय में ही प्रकृति माता ने हमारे लिए एक योग्य शिक्षक और पथ-प्रदर्शक पैदा कर दिया। द्विवेदी जी हमारे पथ-प्रदर्शक बने और उन्होंने अपने इस कार्य का—‘उत्तरदायित्व’ भी कह सकते हैं—संपादन कुशलता-पूर्वक किया। यद्यपि उन्होंने किसी ऐसी संस्था की स्थापना नहीं की जो हिंदी-भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य करती, तथापि ‘सरस्वती’ की सहायता से, भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संचय द्वारा उत्तर-दायित्व-पूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया। उन और सफलता के साथ निभाया। यही उन्हें का प्रधान कारण है।

अवस्था में जिस विद्वान् लेखक ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल बनाया, कंकड़-पत्थर बीने, झाड़-झंखाड़ और कौटीं को जलाया, वह हैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी।”

इसी से द्विवेदी जी आज आधुनिक हिंदी-गाय के निर्माता अथवा जनक कहे जाते हैं।

X

X

X

माता-पिता अपने बालक को किसी योग्य गुरु के सुपुर्द कर देते हैं। वे जानते हैं कि गुरु जितना ही योग्य होगा, बालक की शिक्षा-दीक्षा उतनी ही संयत और उच्च कोटि की होगी। हिंदी-भाषा-भाषियों को भी वीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक ऐसे पथ-प्रदर्शक गुरु की आवश्यकता थी, जो मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति उनका कर्तव्य उन्हें सुभाकर, ज्ञान की वृद्धि करके, उन्हें उचित मार्ग पर लाकर खड़ा कर दे। यह हमारा सौभाग्य ही था कि आवश्यकता के इस समय में ही प्रकृति माता ने हमारे लिए एक योग्य शिक्षक और पथ-प्रदर्शक पैदा कर दिया। द्विवेदी जी हमारे पथ-प्रदर्शक बने और उन्होंने अपने इस कार्य का—‘उत्तरदायित्व’ भी कह सकते हैं—संपादन कुशलता-पूर्वक किया। यद्यपि उन्होंने किसी ऐसी संस्था की म्थापना नहीं की जो हिंदी-भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य करती, तथापि ‘सग्स्वती’ की सहायता से, भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संचालक उत्तर-दायित्व-पूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया। न और सफलता के साथ निभाया। यही उन्हें का प्रधान कारण है।

र्थि ही उनके साहित्यिक-जीवन-काल में उनका लद्य बनी रही—इसी के लिए वे सदैव प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। ‘साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से वहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे। मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाम्पा को पहुँच जाय।’ इस आदर्श और मनोवृत्ति ने ही उन्हें आचार्यत्व के पद पर बैठा दिया।

दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि जिस परिस्थिति में छिवेदी जी का प्रादुर्भाव हुआ था वह किसी स्थायी संपत्ति के निर्माण के बोग्य का ही नहीं। उस समय तो केवल पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता थी जो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में “आवाधित रूप से बढ़ती हुई विचार-विद्रवधता को नष्ट करके शुद्ध साहित्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण भावना साहित्य-सेवियों के हृदयों में जागरित कर दे।” यही कार्य छिवेदी जी ने किया भी। इसी लिए ‘यदि मनुष्य की अनुभूतियों, उसके आहाद, उसकी वेदना, और उसकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य में अवकाश समझा जाय और उसी के अनुसार छिवेदी-साहित्य की परीक्षा की जाय तो मानना पड़ेगा कि समस्त ‘छिवेदी-युग’ भी हमारे साहित्य के इतिहास में कोई बहुत गौरव की वस्तु नहीं बन पाया; उसने प्रथम श्रेणी की “कभी मौलिक शुद्ध साहित्यिक कृति हमारे सामने नहीं रखी।” फिर केवल छिवेदी जी की रचनाओं की तो वात ही क्या है—कारण, उनको तो, एक तरह से मौलिक रचनाओं की लिए अवकाश ही नहीं मिलता था—‘सरस्वती’-संपादन में ही वे सदैव व्यस्त रहते थे। इस कथन की पुष्टि इस वात से भी की जा सकती है कि आज तक हिंदी के किसी भी पत्र-

पूर्ति ही उनके साहित्यिक-जीवन-काल में उनका लद्य बनी रही—इसी के लिए वे सदैव प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। ‘साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से वहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे। मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय।’ इस आदर्श और मनोवृत्ति ने ही उन्हें आचार्यत्व के पद पर बैठा दिया।

दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि जिस परिस्थिति में द्विवेदी जी का प्रादुर्भाव हुआ था वह किसी स्थायी संपत्ति के निर्माण के योग्य का ही नहीं। उस समय तो केवल पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता थी जो साहित्य के प्रत्येक देव में “आवाधित रूप से बढ़ती हुई विचार-विद्वधता को नष्ट करके शुद्ध साहित्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण भावना साहित्य-सेवियों के हृदयों में जागरित कर दे।” यही कार्य द्विवेदी जी ने किया भी। इसी लिए ‘यदि मनुष्य की अनुभूतियों, उसके आहाद, उसकी वेदना, और उसकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य में अवकाश समझा जाय और उसी के अनुसार द्विवेदी-साहित्य की परीक्षा की जाय तो मानना पड़ेगा कि समस्त ‘द्विवेदी-युग’ भी हमारे साहित्य के इतिहास में कोई बहुत गौरव की वस्तु नहीं बन पाया; उसने प्रथम श्रेणी की “क भी मौलिक शुद्ध साहित्यिक कृति हमारे सामने नहीं रखी।” फिर केवल द्विवेदी जी की रचनाओं की तो बात ही क्या है—कारण, उनको तो, एक तरह से मौलिक रचनाओं की लेए अवकाश ही नहीं मिलता था—‘सरस्वती’-संपादन में ही वे सदैव व्यस्त रहते थे। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी की जा सकती है कि आज तक हिंदी के किसी भी पत्र-

के द्वारा पूव और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में सुक्त-हस्त से वितरित की, जिसके लिए हम सब उनके उत्तरी हैं और स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भारतेंदु वावू हरिश्चंद्र के बाद यदि किसी ऐसे एक व्यक्ति का नाम लिया जा सकता है जिसके व्यक्तित्व की हमारे हिंदी-साहित्य के विधिध अंगों पर स्थायी और अमिट छाप लगी हो तो वह आचार्य द्विवेदी जी ही है। जिस दिन कला की सुदृढ़ नींव पर हिंदी-संस्कृति के महान् प्रासाद का निर्माण होगा, जिस दिन गंगा और यमुना के किनारे का 'प्राचीन' एक बार फिर उठकर देश के दूसरे जाग्रत् प्रांतों के समकक्ष में बैठने का हङ्कार हो सकेगा, उस दिन हम देखेंगे कि उसकी नींव को खोड़कर तैयार रखने का सारा श्रेय दौलतपुर के एक आमीण ब्राह्मण को ही है। ४४ वास्तव में, इसी सम्राट् की दिग्बिजय से गोरवान्वित होकर आज हम गुलछर्झे उड़ा रहे हैं। हमें इस प्रकार प्रसन्न होते और स्वर्गीय गौड़ जी के शब्दों में, अपने साहित्यिक जीवन में भावुभाषा हिंदी की जो सेवायें उन्होंने की हैं, उनको फूलते-फलते देखकर आज द्विवेदी जी की आत्मा को जो आनंद हो रहा होगा उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रचार और प्रसार हो रहा है वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भी भूल जाते हैं।

के द्वारा पूव और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में मुक्त-हस्त से वितरित की, जिसके लिए हम सब उनके उत्तरणी हैं और स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाद यदि किसी ऐसे एक व्यक्ति का नाम लिया जा सकता है जिसके व्यक्तित्व की हमारे हिंदी-साहित्य के विविध अंगों पर स्थायी और अमिट छाप लगी हो तो वह आचार्य द्विवेदी जी ही है।' जिस दिन कला की सुदृढ़ नींव पर हिंदी-संस्कृति के महान् प्रासाद का निर्माण होगा, जिस दिन गंगा और यमुना के किनारे का 'प्राचीन' एक बार फिर उठकर देश के दूसरे जाग्रत् प्रांतों के समकक्ष में बैठने का हङ्कार हो सकेगा, उस दिन हम देखेंगे कि उसकी नींव को खोड़कर तैयार रखने का सारा श्रेय दौलतपुर के एक ग्रामीण ब्राह्मण को ही है। ४४ वास्तव में, इसी सम्राट् की द्विविजय से गौरवान्वित होकर आज हम गुलबर्गे उड़ा रहे हैं। हमें इस प्रकार प्रसन्न होते और स्वर्गीय गौड़ जी के शब्दों में, अपने साहित्यिक जीवन में मातृभाषा हिंदी की जो सेवायें उन्होंने की हैं, उनको फूलते-फूलते देखकर आज द्विवेदी जी की आत्मा को जो आनंद हो रहा होगा उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रचार और प्रसार हो रहा है वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के ग्रति कृतज्ञ होना भी भूल जाते हैं।

हैज़ालिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्टील, जानसन, रवींद्रनाथ आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समर्ता तो सबमें है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गये हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निरूप रहस्यतम अंतरपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि वावू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ व्रात्यरण की भाँति द्विवेदी जी का शुर्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न यल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूखम दृष्टि; केवल एक शुद्ध व्रेतणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुरुकता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुदाई कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के चेत्र में कपास की ही खेती की 'निरस विशद गुणमय फल जासू।'

X

X

X

X

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फूला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित हस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो

हैज़ालिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्वील, जानसन, रवींद्रनाथ आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समर्ता तो सबमें है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गये हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निरूप रहस्यतम अंतरण्ठ का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगमिनी गति ही मिली है जो सदा रवि वान्‌र के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ व्रात्यण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्त्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न वल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूखम दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्त्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के चेत्र में कपास की ही खेती की 'निरस विशद् गुणमय फल जासु।'

X

X

X

X

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूल-फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित हस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो

भी चिधियाँ चिह्नित हैं। द्विवेदी युग का साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।

—ब्राह्म श्यामसुंदरदास, बौ० ए०  
श्याम कृष्णदास  
श्रीरत्नविना दि० अ० अ० अ० अ० पृष्ठ ६-७)

## द्विवदा

गिरिमेखला से वेदित होते हुए भी श्रप्ते आकाश-विस्तरिक के कारण, एक स्वच्छेद पर्वत-सा मालूम होता है। जिसके बूँदःस्थल पर भ्रेवों का हार है और विद्युच्छ्रद्धा दमकते हुए हीरे की तरह चण्डण में लेहक होती है; परंतु जिसका उच्चतर ललाट शुभ्र आकाश में सूर्य की रशिमयों से कीर्तिमयी कांति का पंज बनकर अपने युग-प्रदेश को तेजोमय करता है, और जिसकी प्रतिमा से पीयूपमयी शक्ति काढ़ाज्ञेष्ट शिवरांकर की जटा से निकली हुई पुरायसलिला गंगा के समीनि अनेक प्रांतों को सिंचित और अनेत्र प्राणियों को सत्तसाहित्य और सदुद्योगों में प्रवृत्त होने के लिए इकर्ति का दान देता है। अपने युग में वह बेजोड़ है। श्रद्धेय श्रीनिवास शास्त्री ने जो गांधी जी के विषय में कहा था, वही, साहित्यिक ज्ञेन्म में—और वह भी वहीं तक के लिए जहाँ तक हिंदी-भाषा की सीमा का विस्तार है—द्विवेदी जी के लिए कहा जा सकता है। वह बास्तव में ‘आश्चर्य और अननुगम्य’ है, उन्हें न कोई कू सकता है और न कोई उनके पास तक फटक सकता है। अपनी अनूठी विशिष्टता से वे सर्वथा अकेले और निराले हैं। अपने समय के वे एकच्छ्रेष्ठ राजा थे। काफ़ी समय तक ग्रन्तिद्विद्यों ने उनके हाथ से साहित्यिक दंड को छीनने की व्यर्थ चेष्टायें कीं। अंत में विजयलक्ष्मी ने उन्हों के माथे पर मुकुट रखा

भी विधियाँ विहित हैं। द्विवेदी-युग के साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।

—ब्राह्म शवाससुंदरदास, ब्र० ए०  
शत्रुघ्नि कृष्णदास  
(अरतावना दि० अ० अ० अ० अ० शुष्टि ६-७)

द्विवेदी जी उस गगनस्थरी मेरुस्तम्भ से समर्पण करते हैं जो गिरि-मेखला से वेष्टित होते हुए भी, अपने आकार-विस्तरित के कारण, एक स्वच्छंद पर्वत-सा मालूम होता है। जिसके ब्रह्मस्थल पर मेवों का हार है और विद्युच्छटा द्रुमकर्त्त्वे हुए हीरे की तरह, चूण-चण तीर्त्तिकर हो जाती है; परंतु जिसका उच्चत-ललाट्टु शुभ्र आकाश में सूर्य की रशमयों से छीर्तिमयी करति, कर पक्ष व्यक्तकर अपने युग-प्रदेश के तेजोमय करता है, और जिसकी प्रतिभा से पीयूषमयी शक्ति का क्रमान्वय शिवर्णकर की जटा से निष्कर्षी हुई पुण्यसत्तिला गंगा के समीन, अनेक प्रांतों को सिंचित और अनेत्र प्राणियों को सत्तसाहित्य और सदुद्योगों में प्रवृत्त होने के लिए उक्ति का दान देता है। अपने युग में वह वैजोङ है। श्रद्धेय श्रीनिवास शास्त्री ने जो गांधीजीके विषय में कहा था, वही, साहित्यिक चेत्र में—और वह भी वही तक के लिए जहाँ तक हिंदी-भाषा की सीमा का विस्तार है—द्विवेदी जी के लिए कहा जा सकता है। वह वास्तव में ‘आश्चर्य और अननुगम्य’ है, उन्हें न कोई छू सकता है और न कोई उनके पास तक फटक सकता है। अपनी अनूठी विशिष्टता से वे सर्वांग अकेले और निराले हैं। अपने समय के वे एकल्लू राजा थे। काफी समय तक ग्रतिद्वियों ने उनके हाथ से साहित्यिक दंड को छीनने की व्यर्थ चेष्टायें कीं। अंत में विजयलधी ने उन्होंने के माथे पर ऊँकुट रखा

तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी के साहित्यिक कोड़ों की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करनेवाले लेखकों को समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांचित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूजास्पद हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी में मैत्री का अपूर्व गुण है।

—पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, एम० ए०  
(सासाहिक भारत २८ अक्टूबर और ११ नवंबर, १९२८)

४

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी, जो अपने युग के प्रधान साहित्याचार्य हुए, अपने आरंभिक विकास की दृष्टि से दयानंदी थे। सामयिक जड़ताथों का प्रतीकार करने में आप सदा खझहस्त रहे। परशुराम की भाँति आपने राजसभाव के विरुद्ध चिरकाल तक अनवरत संघर्ष किया। युग की परिस्थिति के बश होकर द्विवेदी जी, द्वैषणाचार्य की भाँति ज्ञानधर्म के अनुयायी हुए। उन्होंने सैनिक वृत्ति धारण की। पच्चीसं वर्ष लगातार हिंदी-साहित्य के शिविर में उसके सेनानायक होकर रहे। सच पूछा जाय तो हिंदी का वह युग ब्राह्मणयुग न था, ज्ञानियुग था। उसकी संपूर्ण मतिगति वैसे ही साँचे में ढली थी। उस युग के सच्चे ब्राह्मणों ने—जिनमें द्विवेदी जी प्रमुख हैं—एक अभूतपूर्व आवेश में आकर कार्य किया। उनका ज्ञान हम पर अपार है। परंतु जब हम यह विचार करते हैं कि निरंतर संघर्षसमय समय में रहकर भी द्विवेदी जी उत्तम कोटि की साहित्यिक दृष्टि से संपन्न थे, तब हमें उनकी वास्तविक महत्त्व का बोध होता है। संस्कृत-काव्य की मध्यकालीन-कला—विशेषतः युक्त-रचना का चमत्कार द्विवेदी जी पर पूर्ण प्रभाव रखता था, किंतु वे और भी

तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी के साहित्यिक कोडें की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करनेवाले लेखकों को समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांडित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूजास्पद हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी में मैत्री का अपूर्व गुण है।

—पंडित वैकटेशनारायण तिवारी, एम॰ ए॰

(सासाहिक भारत २८ अक्टूबर और ११ नवंबर, १९२८)

## ४

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी, जो अपने युग के प्रधान साहित्याचार्य हुए, अपने आरंभिक विकास की दृष्टि से दयानंदी थे। सामयिक जड़ताओं का प्रतीकार करने में आप सदा खङ्गहस्त रहे। परशुराम की भाँति आपने राजसभाव के विरुद्ध चिरकाल तक अनवरत संघर्ष किया। युग की परिस्थिति के बश होकर द्विवेदी जी, द्रोणाचार्य की भाँति ज्ञात्रधर्म के अनुयायी हुए। उन्होंने सैनिक वृत्ति धारण की। पञ्चीसं वर्ष लगातार हिंदी-साहित्य के शिविर में उसके सेनानायक होकर रहे। सच पृष्ठा जाय तो हिंदी का वह युग ब्राह्मणयुग न था, ज्ञनिययुग था। उसकी संपूर्ण मतिगति वैसे ही साँचे में ढली थी। उस युग के सच्चे ब्राह्मणों ने—जिनमें द्विवेदी जी प्रमुख हैं—एक अभूतपूर्व आवेश में आकर कार्य किया। उनका ऋण हम पर अपार है। परंतु जब हम यह विचार करते हैं कि निरंतर संघर्षमय समय में रहकर भी द्विवेदी जी उत्तम कोटि की साहित्यिक दृष्टि से संपन्न थे, तब हमें उनकी चास्तविक महत्ता का बोध होता है। संस्कृत-काव्य की मध्यकालीन-कला—विशेषतः युक्तरचना का चमत्कार द्विवेदी जी पर पूर्ण प्रभाव रखता था, किंतु वे और भी

६

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं को सेवा का फज्ज है। हिंदी-साहित्य गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पश्चाकर आंदि कवि साहित्याकाश के देवीप्यमान नज़र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जलराशि देकर साहित्य उपचन को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—श्रीपदुमलाल पुजालाल बहूशी

(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ पृ० ५३१)

७

हिंदों के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिए हिंदू-संस्कृति और हिंदूत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-हारा हिंदू की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिए वे सान्थ हैं।

—श्री भाई परमानंद एम० ए०, एम० एल० ए०

(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ पृ० ५३१)

८

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pandit Mahavir Prasad Dwivedi X X X All honour to him for the pioneer work that he has per-

६

यदि कोई सुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखादर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिंदी-साहित्य गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पश्चाकर आंदि कवि साहित्याकाश के देवीप्यमान नचन्त्र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जलराशि देकर साहित्य उपचत को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—श्रीपदुमलाल पुजालाल बस्त्री

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

७

हिंदो के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिए हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदू की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिए वे मान्त्र हैं।

— श्री भाई परमानंद एम० ए०, एम० एल० ए०

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

८

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pandit Mahavir Prasad Dwivedi X X X All honour to him for the pioneer work that he has per-

ब्रेम और अक्षयदिपन का जो standard हिंदी-पत्रकारों के सामने उन्होंने रखा है उस तक पहुँचने के लिए अभी वीसियों वर्ष लगेंगे। उनके मुकाबले का दूसरा कोई जनेलिस्ट हिंदी-संसार में तो विद्यमान नहीं।

—पं० वनारसीदास चतुर्वेदी  
(विशाल भारत, मई १९२६)

१२

हिंदी-संसार में तो क्या उनकी टक्के के साहित्य-सेवी भारत के अन्य भाषा-भाषियों में भी कितने हैं, पता नहीं।

—पं० श्रीरामशर्मा  
(सुधा, ६-१-२ पृ० २२५)

१३

व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता। लोकाकांजा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से इन्होंने जिस वातावरण की स्थिति की, उसके भीतर से इसी लोकाकांजा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े शाहाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जिरना ही अधिक प्रसार होगा, हम उतनी ही जल्दी अपने आपको समुच्छित बना सकेंगे।

—स्व० श्री ब्रेमचंद जी  
(हंस ३-७-प० १०२)

१४

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्ष में शैगरेज़ों का राज्य रहे, वहे स्वराज्य हो जाय, एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रवाद की दुंदुभि बजे; परंतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया

ब्रेम और अख्याहपन का जो standard हिंदी-पञ्चकारों के सामने उन्होंने रखा है उस तक पहुँचने के लिए अभी वीसियों वर्ष लगेंगे। उनके मुक्कावले का दूसरा कोई जर्नलिस्ट हिंदी-संसार में तो विद्यमान नहीं।

—पं० वनारसीदास चतुर्वेदी  
(विशाल भारत, मई १९२६)

१२

हिंदी-संसार में तो क्या उनकी टक्कर के साहित्य-सेवी भारत के अन्य भाषा-भाषियों में भी कितने हैं, पता नहीं।

—पं० श्रीरामशर्मा  
(सुधा, ६-१-२ पृ० २२५)

१३

व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता। लोकाकांजा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से इन्होंने जिस वातावरण की सहि की, उसके भीतर से इसी लोकाकांजा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आहाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जिरना ही अधिक प्रसार होगा, हम उतनी ही जल्दी अपने आपको समुच्चित बना सकेंगे।

—स्व० श्री ब्रेमचंद्र जी  
(हंस ३-७-पृ० १०२)

१४

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्ष में थँगरेजों का राज्य रहे, यह स्वराज्य हो जाय, एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रयाद की टुंटुभि बजे; परंतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया